

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182728

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-23-4-4-69-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 801** Accession No. **P. G. H 227**
PG/5

Author **प्रसाद शिवनन्दन**

Title **साहित्य के रूप और रस**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार,
पटना, लहेरियासराय, भागलपुर, राँचा।

सर्वाधिकार सुरक्षित
मूल्य ३)

मुद्रक—
हिमालय प्रेस, पटना

विषय-सूची

विषय

पृष्ठ

भूमिका

अपनी बात

१. हिन्दी-भाषा

... १—२८

भाषा और उसकी उत्पत्ति

... १

[भाषा क्या है ? भाषा की उत्पत्ति के संबन्ध में विभिन्न मत]

हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति और विकास

... ३

[वैदिक संस्कृत—लौकिक संस्कृत—प्राकृत—अपभ्रंश

आधुनिक आर्य भाषाएँ और हिन्दी]

हिन्दी-भाषा क्षेत्र और उसकी बोलियाँ

... ८

['हिन्दी शब्द'—हिन्दी क्षेत्र—हिन्दी की बोलियाँ]

हिन्दी शब्द-भण्डार

... १२

हिन्दी की लिपि

... २१

[ब्राह्मी लिपि—शारदा लिपि—नागरी लिपि]

हिन्दी की वर्तमान लिपि-समस्या

... २५

२. हिन्दी व्याकरण के कुछ पहलू

... २६—४७

व्याकरण और उसका सीमा

... २६

वर्ण-विचार

... ३१

शब्द-विचार

... ३६

['शब्द' शब्द के अनेक अर्थ—शब्द और अर्थ—अभिधा—
लक्षणा और उसके भेद—व्यञ्जना और उसके भेद—श्वनि—
शब्दों के भेद]

३. साहित्यिक रचना-विधान और उसके तत्त्व ४८—५२

रचनाव्यक्त साहित्य	...	४८
विषय और शैली	...	५०

४. कविता के तत्त्व ... ५३—७३

काव्य और कविता	...	५३
कविता के अनिवार्य तत्त्व	...	५४
भाव और रस	...	५५

[रस-निष्पत्ति—स्थायीभाव—संचारीभाव—अनुभाव—
असंलक्ष्य क्रमव्यवस्था]

रसास्वादन की प्रक्रिया	...	६०
साधारणीकरण और मधुमती भूमिका	...	६३
फरपना	...	६५
कविता में बुद्धितत्त्व	...	६६
कविता में छन्दविधान	...	६७
कविता और अलंकार	...	६८

५. कविता के स्वरूप-विधान ... ७४—८७

प्रबन्ध-काव्य	..	७४
---------------	----	----

[प्रकृतिचित्रण के प्रकार—मायिक परिस्थितियों की योजना-
चरित्र-चित्रण]

(६)
Post Graduate Library

महाकाव्य	College of Arts & Commerce, O. U.---	८०
खण्डकाव्य	...	८३
मुक्तक	...	८४
स्फुट पद	...	८५
गीतिकाव्य	...	८५
वोर गीत	...	८६
६. कहानी के तत्त्व	... ८८—१२१	
कहानी और रस	...	८६
आधुनिक हिन्दी कहानी	...	९१
शीर्षक आरम्भ और अन्त	...	९२
स्वरूप विधान	...	९५
कथावस्तु	...	९७
चरित्र-चित्रण	...	१०२
कथनोपकथन	...	१०६
दृश्य-योजना	...	१०६
देशकाल	...	११०
भाषाशैली	...	१११
दृष्टिकोण	...	११३
संदेश	...	११६
७. उपन्यास के तत्त्व	... १२२—१२८	
उपन्यास और कहानी	...	१२२
शीर्षक, आरम्भ और अंत	...	१२२

(च)

कथावस्तु	...	१२३
चरित्र-विकास	...	१२५
कथनोपकथन	...	१२६
दृश्ययोजना	...	१२६
देशकाल	...	१२६
भाषाशैली	...	१२७
दृष्टिकोण	...	१२७

८. नाटक के तत्त्व ... १२६—१५०

नाट्यशास्त्र		१२६
दृश्य काव्य के विविध भेद	...	१२६

[रूपक के भेद—उपरूपक के भेद]

नाटक के तत्त्व (प्राचीन भारतीय दृष्टि)	...	१३४
--	-----	-----

[वस्तु-विचार—पूर्वरंग, घटनावस्तु, भरतवाक्य—नायक
विचार—रस विचार]

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के तत्त्व	...	१४२
------------------------------------	-----	-----

[कथावस्तु — चरित्र — वार्त्तालाप — देशकाल—दृष्टिकोण—
संदेश - रंगमंच]

९. निबन्ध ... १५१—१५८

निबन्ध और प्रबन्ध	...	१५१
संस्कृत की निबन्ध शैली	...	१५२
हिन्दी में निबन्ध का अर्थ	...	१५२
निबन्ध की विशेषताएँ		१५३

निबन्ध के विविध प्रकार	...	१५५
[वर्णनात्मक - विचारात्मक—भावात्मक—कल्पनात्मक— वैयक्तिक—आलोचनात्मक]		
१०. गद्यगीत	...	१५६—१६२
गद्यगीत के प्राचीन और नवीन उदाहरण	...	१६१
११. शब्द चित्र	...	१६३—१७९
[एक आधुनिक साहित्य-विधान—शब्द-चित्र की विशेषताएँ —हिन्दी के शब्द-चित्रकार]		
१२. रिपोर्टाज	...	१७०—१७३
१३. जीवनी : आत्मकथा : संस्मरण	...	१७४—१८३
जीवनी में इतिहास और साहित्य के तत्त्व	...	१७४
जीवनी की अन्य विशेषताएँ	...	१७७
आत्मकथा और संस्मरण		१७८
जीवनी साहित्य में जनसामान्य का नायकत्व	...	१८१
हिन्दी में जीवनी-साहित्य	...	१८२
१४. समालोचना	...	१८४—१९४
आलोचना का अर्थ	...	१८४
[समालोचना—निबन्ध—प्रबन्ध—लेख—व्याख्या— आलोचना—पुस्तक समीक्षा या पुस्तक परिचय—प्रत्यालोचना]		
आलोचना के भेद	...	१८०
[आलोचक के कर्तव्य—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा—वैज्ञानिक और शास्त्रीय आलोचना—विवेचना-		

(ज)

त्मक आलोचना — मनोवैज्ञानिक आलोचना — ऐतिहासिक
आलोचना — निर्णयात्मक आलोचना — गुणदोषात्मक
आलोचना — तुलनात्मक आलोचना — चारित्रिक आलोचना
— आत्मगत या प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना — समाज-
शास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी आलोचना]

— — —

भूमिका

हिन्दी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का इतिहास बहुत पुराना नहीं । उसका मूल तो संस्कृत के प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थों में स्थित है । किन्तु, उसकी शाखाओं-उपशाखाओं पर पाश्चात्य विचारों का प्रभाव भी इस युग में पड़े बिना नहीं रहा है । फलतः, वर्तमान हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा का विकसित रूप होकर भी उस परम्परा से स्वतन्त्र और अभिनव अर्थवत्ता से युक्त है ।

सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी हिन्दी का प्रथम गद्य-प्रबन्ध कई दृष्टियों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' शीर्षक प्रबन्ध को कहा जा सकता है । किन्तु, इस प्रबन्ध की सीमाएँ थीं । एक तो उस समय तक हिन्दी में नाटकों की कोई अपनी विशेष परम्परा बन नहीं पाई थी । भारतेन्दु ने जो नाटक लिखे थे उनमें विषय की दृष्टि से नवीनता होते हुए भी विधान कई अंशों में पुराना ही था । दूसरे, इसमें केवल नाटक पर विचार किया गया था, साहित्य के सभी स्वरूपों और तत्वों का सम्यक् विवेचन इसका उद्देश्य नहीं था । साहित्य के विविध रूपों को लेकर समीक्षा-सिद्धान्तों के सर्वाङ्गीण और नवीन विवेचन का प्रयास बाद में डा० श्यामसुन्दर दास के साहित्यालोचन द्वारा हुआ । इस दृष्टि से इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । किन्तु, इसकी सीमा यह है कि इसमें

यद्यपि प्राचीन काव्यशास्त्र की कतिपय मान्यताओं की चर्चा हुई है, फिर भी, कला, साहित्य, काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानों सम्बन्धी दृष्टिकोण लगभग पाश्चात्य ही हैं। इस ग्रंथ में, एक प्रकार से, पाश्चात्य विचारों का (विशेष रूप से हडसन के विचारों का) अनुवाद-सा कर दिया गया है। यह असदिग्ध है कि हिन्दी के अध्येताओं को आरम्भ में इस प्रयास से भी लाभ तो हुआ ही है, किन्तु यह भी निश्चय ही सत्य है कि अब युग आगे बढ़ गया है और आज अधिक व्यापक दृष्टि से प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के सन्तुलित अध्ययन की आवश्यकता है। हिन्दी में प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के कतिपय अनुवादों (जैसे 'हिन्दी रसगंगाधर', 'काव्य-प्रकाश' के अनुवाद आदि) तथा प्राचीन काव्य-शास्त्र के आधार पर लिखित स्वतन्त्र विवेचनात्मक ग्रन्थों (जैसे कन्हैया लाल पोद्दार कृत 'काव्यकल्पद्रुम' आदि) में काव्य के तत्त्वों और प्रक्रियाओं का विवेचन ही विशेष रूप से हुआ था, स्वरूपों का नहीं। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि से प्रभावित वर्तमान हिन्दी साहित्य के अध्ययन-मूल्यांकन के लिये सिद्धान्त-तत्त्व नहीं मिलते। क्योंकि, आज के हिन्दी साहित्य की समीक्षा का उपयुक्त सैद्धान्तिक आधार केवल 'भरत' से लेकर 'पंडितराज जगन्नाथ' तक के विचारों के संकलन मात्र से निर्मित नहीं हो सकता, और न पाश्चात्य विचारकों के ग्रन्थों के भावानुवाद से ही हो सकता है। उसके लिये चाहिये दोनों परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन के साथ नवान हिन्दी साहित्य के आलोक में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति और प्रतिभा। ऐसी ही प्रतिभा लेकर हिन्दी में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पाण्डित्यपूर्ण समालोचनाएँ प्रस्तुत कीं एवं जायसी,

सूर और तुलसी की व्यावहारिक समीक्षाओं के सिलसिले में तथा स्वतन्त्ररूप से भी यत्र-तत्र मौलिक समीक्षा-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा का उपक्रम किया। किन्तु, शुक्ल जी, असमय देहावसान के कारण, कोई एक ऐसा सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं लिख सके जिसे साहित्य के सभी रूपों और तत्त्वों का मौलिक और अद्यतन विवेचन हो। यदि वे कुछ दिन और हमसंगों के बीच जीवित रहते तो निश्चय ही हिन्दी का एक बहुत बड़ा अभाव दूर हो गया होता।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि श्री शिवनन्दन प्रमाद ने अब प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा उस अभाव का सर्वांश में पूर्ति कर दी है, किन्तु इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि इन्होंने इस दिशा में एक बहुत ही सफल और महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। इधर हाल में सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी कई और पुस्तकें निकली हैं और उनमें से दो-एक महत्त्वपूर्ण भी हैं। स्वयं शिवनन्दन जी की इस विषय पर एक पुस्तक 'काव्या-लोचन के सिद्धान्त' सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें काव्य और आलोचना पर भारतीय तथा पाश्चात्य प्रमुख विचारकों के मतों के संकलन के साथ कुछ मौलिक विचार भी हैं जो सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रति लेखक की देन हैं। इस देन का क्या मूल्य होगा, इसका यथातथ्य निर्णय करने में भविष्य ही समर्थ है।

प्रस्तुत पुस्तक 'साहित्य के रूप और तत्त्व' शिवनन्दन जी की उस पहली पुस्तक का पूरक है, क्योंकि इसमें काव्य और आलोचना के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, शब्दचित्र, आत्मकथा,

जीवनी, संस्मरण, रिपोर्टाज, गद्यकाव्य जैसे प्रायः सभी साहित्यविधानों का तात्त्विक विवेचन है ।

पुस्तक में व्यक्त लेखक के कुछ विचारों में मतभेद की सम्भावना हो सकती है, और, पुस्तक की आकार आदि विषयक सीमाएँ भी हैं । फिर भी, संयत, अर्थगर्भित भाषा में व्यासक, स्पष्ट, वस्तुनिष्ठ और संतुलित सिद्धान्त-विवेचन के कारण पुस्तक की उपयोगिता में सन्देह नहीं ।

मैं इसके प्रकाशन का सहर्ष स्वागत करता हूँ ।

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,
पटना विश्वविद्यालय,
पटना ५ ।

}

विश्वनाथप्रसाद

एम०ए० (हि०सं०), पी०एच०डी० (लंदन)

अपनी बात

यह पुस्तक मैंने लिखी नहीं, जान-अनजान में लिख गई। वरन्, यों कहिये, परिस्थितियों ने लिखने को विवश किया। जब लिखना आरम्भ किया था तो कोई योजना नहीं थी; बस लिख चला। और लगभग एक साल के बाद जब पुस्तक को अंतिम पंक्तियाँ लिख रहा था, मैंने पाया, इसमें हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त प्रायः सभी विधानों और उनके प्रमुख तत्त्वों का सरल, सामान्य, क्रमबद्ध विवेचन हो गया है। पुस्तक किसी विशेष वर्ग के पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखी नहीं गई, किन्तु देखता हूँ, विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए भी यह उपयोगी हो गई है।

लकीर पीटने की मनोवृत्ति को मैं जितना गहिँत मानता हूँ, उससे अधिक मौलिकता के नाम पर बे-सिर-पैर की बातें कहने की प्रवृत्ति को। इसलिए, न तो मुझे बड़े, प्रसिद्ध नामों से आतंकित होना या करना सहन हुआ है, न मात्र पूर्वनिश्चित या परम्परासिद्ध होने के कारण किसी विचार या सिद्धान्त के प्रति अरुचि दिखाना रुचिकर। संतुलन को जीवन के ही समान साहित्यालोचन के लिए भी स्वास्थ्यकर मानता हुआ मैं इस पुस्तक में सिद्धान्त-निरूपण को अधिक-से अधिक वैज्ञानिक बनाने के हेतु सचेष्ट रहा हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि प्रस्तुत पुस्तक में केवल निष्कर्ष-रूप सिद्धान्त ही दे दिए गए हैं, उनके आधारभूत लक्ष्य ग्रंथों का और निष्कर्षों तक पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्देश प्रायः नहीं हो

पाया है; पुस्तक को आकारादि विषयक सीमाएँ उत्तरदायी हैं। इस पूर्णतया वैज्ञानिक प्रणाली से हिन्दी के नवीन आलोचनाशास्त्र के निर्माण का कार्य आज जितना आवश्यक है, उतना ही उषेक्षित भी; व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र की वर्तमान अराजकता इसीका परिणाम है। अभिलाषा इस महत्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने का आग्रह करती है। अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा है।

तब तक, विज्ञ पाठक, यह छोटी-सी पुस्तक आपके हाथों में है। आपके लिए इसका उपयोग मेरे परिश्रम की सफलता का मापक है। माप के संबन्ध में मैं संदिग्ध नहीं, किन्तु पुस्तक के संबन्ध में आपकी सम्मति पाकर—विश्वास करें, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल—मुझे कम प्रसन्नता नहीं होगी। क्या मुझे उपकृत करेंगे।

अन्त में, कृतज्ञता-ज्ञापन।

उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति मैं आभारी हूँ जिनके विचारों या पंक्तियों का उपयोग पुस्तक में किसी भी रूप में किया गया है।

पूज्य गुरुवर डाक्टर विश्वनाथ प्रसादजी ने अतुल स्नेह और सहज उदारता के वशीभूत हो, इस पुस्तक की भूमिका लिखना स्वीकार कर इसे जो महत्व और मुझे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिए औपचारिक ढंग से आभार प्रकट करने की चेष्टा अशिष्टता होगी। कारण, इस पुस्तक में या इसके लेखक में यदि कुछ भी अच्छाई है तो वह आपके स्नेह और शिक्षण का ही प्रसाद है। और इस गुरु ऋण से उद्धार होने के लिए गुरुतर प्रयत्न अपेक्षित है। यह पुस्तक तो अपने लेखक के अनुरूप ही हल्केपन के कारण इस प्रसंग में असंगत है।

(ण)

यहाँ, धन्यवाद के अधिकारी हैं बिहार के लब्ध-प्रतिष्ठ 'मास्टर साहब' (आचार्य श्रीरामलोचनशरणजी) अवश्य, जिन्होंने ही मुझे इस पुस्तक की रचना में प्रवृत्त किया । 'मास्टर साहब' आधुनिक बिहार की साहित्य-साधना को जिस रूप में प्रेरित-प्रभावित करते रहे हैं और कर रहे हैं, वह कौन नहीं जानता ? उत्कृष्टतम ग्रंथों द्वारा हिन्दी का भण्डार भरने की उनकी उत्कट और चिर सजग आकांक्षा अनुकरणीय है ।

उनके इच्छानुसार इस पुस्तक में 'संक्षेप में सब कुछ' तो शायद नहीं कह पाया होऊँ, किन्तु सूत्ररूप में बहुत कुछ कह देने का प्रयत्न अवश्य किया है । विश्वास है, अतिशय व्यस्तता के इस युग में पाठक इससे विशेष उपकृत होंगे ।

हिन्दी विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना ५
६ फरवरी, १९५४

}

शिवनन्दन प्रसाद

हिन्दी-भाषा

भाषा और उसकी उत्पत्ति

भाषा क्या है ?

‘भाषा’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। सामान्य रूप से ‘भाषा’ शब्द का व्यवहार मनुष्यमात्र की भाषा के अर्थ में होता है। इस अर्थ में ‘भाषा’ मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यवहार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं—’ (मंगल देव)। दूसरे शब्दों में, अर्थ पूर्ण शब्दों के सहारे भावों और विचारों को व्यक्त करने का माध्यम ही भाषा है।

‘भाषा’ शब्द का दूसरा अर्थ हम किसी देश या जाति की भाषा के रूप में भी ले सकते हैं। जैसे, हिन्दी, अँगरेजी, फारसी।

‘भाषा’ शब्द का तीसरा अर्थ है देश के किसी भूभाग की भाषा अथवा परस्पर संबद्ध बोलियों का वर्ग। जैसे, राजस्थानी, बिहारी।

चौथा अर्थ है भिन्न-भिन्न वर्गों, धर्मों, सम्प्रदायों, रोजगारों, या पेशे आदि के लोगों के बातचीत का विशिष्ट ढंग । जैसे, गँवारों की भाषा, स्त्रियों की भाषा, पण्डितों की भाषा, कूटनीतिज्ञों की भाषा ।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अपनी निजी विशेषताओं से युक्त बोली के लिये भी 'भाषा' शब्द का व्यवहार होता है । जैसे, पन्त की भाषा, प्रसाद की भाषा ।

इसके अतिरिक्त साहित्यिक भाषा, सर्वसाधारण की भाषा आदि पदों में 'भाषा' के विशिष्ट अर्थ ग्रहण किये जाते हैं ।

यों तो सांकेतिक भाषा भी 'भाषा' ही है । शारीरिक चेष्टाओं या संकेतों द्वारा विचार व्यक्त करने को भी हम कभी कभी भाषा कहते हैं । कभी-कभी कृत्रिम संकेतों से भी काम लेते हैं । जैसे, शास्त्रलिपि में अथवा एस्मिरैतो नामक भाषा में ।

भाषा की उत्पत्ति —

भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी और सर्वप्रथम भाषा का स्वरूप क्या रहा होगा, इसकी थोड़ी जानकारी मनो-रञ्जक होगी । विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार मत दिये हैं—

(१) किसी देवी शक्ति के द्वारा एकाएक पूर्ण और परिष्कृत भाषा की सृष्टि हो गई होगी । भारतीय वैदिक संस्कृत को आदि भाषा मानते हैं जो आरम्भ

से ही सर्वाङ्गपूर्ण थी और स्वयं ब्रह्मा ने जिसकी सृष्टि की थी ।

(२) मनुष्यों ने शारीरिक संकेतों द्वारा काम चलता नहीं देखकर जानबूझकर भाषा का आविष्कार किया ।

(३) स्वभावतः मनुष्य के विचार और भाव कुछ मूल धातुओं के रूप में व्यक्त हो गये और फिर धीरे-धीरे इनके आधार पर भाषा बन चली ।

(४) अनुकरण और हर्ष-क्रोध आदि मनुष्यों को व्यञ्जित करनेवाले शब्दों के आधार पर भाषा का विकास हुआ ।

अन्तिम दोनों मत अधिक वैज्ञानिक हैं ।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति संस्कृत-प्राकृत भाषाओं की परम्परा से हुई है ।

वैदिक संस्कृत —

भारतवर्ष की आदि भाषा का नाम वैदिक संस्कृत है । इसका स्वरूप वेदों में मिलता है । ऋग्वेद की ऋचाओं की भाषा यही है । वैदिक संस्कृत काल में संभवतः सारे उत्तर भारत में आर्यों की भाषा समान थी । उसमें कुछ भी भेद नहीं के बराबर थे । वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक

नहीं कहा जा सकता । पर इतना निश्चित है कि वैदिक संस्कृत भाषा का काल आज से कम-से-कम ३००० वर्ष पूर्व है ।

लौकिक संस्कृत —

लौकिक संस्कृत ने कालान्तर में वैदिक संस्कृत का स्थान ले लिया, क्योंकि पुरानी भाषा कई कारणों से बदलती जाती है और नई भाषा बन जाती है । यह प्राकृतिक नियम है । भाषागत परिवर्तनों के ये कारण उच्चारण की सुविधा (प्रयत्न लाघव), नये विचारों का जीवन में समावेश, नई जातियों का सम्पर्क, नई परिस्थितियों की प्रतिक्रिया, जलवायु, रहन-सहन आदि में परिवर्तन प्रभृति हैं । इन्हीं कारणों से भारतवर्ष की मूल भाषा—वैदिक संस्कृत में भी परिवर्तन हुए और लौकिक संस्कृत का रूप सामने आया । लौकिक संस्कृत का काल १५०० ई० पू० से ५०० पू० तक माना जाता है । इसमें लौकिक साहित्य की रचना कवियों-लेखकों ने की । पाणिनि ने व्याकरण के नियमों द्वारा इसके प्रवाह को—परिवर्तन की गति को—रोकने का उद्योग किया । इस भाषा का साहित्य में प्रयुक्त होने वाला रूप तो इस उद्योग के फलस्वरूप व्याकरणबद्ध होकर स्थिर हो गया । पर जनता द्वारा प्रयुक्त होनेवाले रूप में परिवर्तन की गति रोके नहीं रुकी । साहित्यिक संस्कृत का रूप कालिदास, भवभूति आदि की लेखनी द्वारा आज भी सुरक्षित है । पर जनता के बीच बोली जानेवाली भाषा बदलती गई ।

प्राकृत—

इस परिवर्त्तन का परिणाम हुआ प्राकृत । प्राकृत भाषा सामान्य जनों (या प्राकृत जनों) की भाषा थी । संस्कृत साहित्यिक भाषा रही । प्राकृत भाषा का काल ५०० ई० पू० से लेकर ५०० ई० तक, लगभग १००० वर्षों का माना जाता है । जनता की भाषा (प्राकृत) जब साहित्यिक भाषा (संस्कृत) से दूर जा पड़ी तो पंडितों और कवियों ने जनता की भाषा में भी साहित्य लिखने की आवश्यकता का अनुभव किया । फलतः प्राकृत में भी साहित्यिक रचनाएँ हुईं । भगवान् बुद्धदेव ने अपने उपदेश प्राकृत के जिस रूप में दिये उसे पाली कहते हैं । हाँ, प्राकृत-काल तक आते-आते उत्तर भारत की भाषा में आपसी भेद दिखलाई देने लगे । भिन्न-भिन्न भूमिभागों की विभिन्न जलवायु तथा परिस्थितियों के कारण ही यह भेद हुए होंगे । फलस्वरूप चार प्रकार की प्राकृत भाषाएँ देखने में आईं—

- i मागधी प्राकृत
- ii. अर्द्ध मागधी प्राकृत
- iii. शौरसेनी प्राकृत
- iv. महाराष्ट्री प्राकृत

अपभ्रंश—

अपभ्रंश प्राकृत भाषाओं का ही अपभ्रष्ट (अत्यन्त विकृत) रूप या भाषाविज्ञान की दृष्टि से कहें तो, अत्यन्त विकसित रूप है । चार प्रकार की प्राकृतों से चार प्रकार की अपभ्रंश भाषाएँ

निकलीं । मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश, अर्द्धमागधी प्राकृत से अर्द्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश तथा महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश भाषाओं ने जन्म ग्रहण किया । यहाँ यह याद रहे कि भाषाओं के ये परिवर्तन अनायास किसी निर्दिष्ट तिथि को नहीं हो गये होंगे । इनमें अवश्य एक दीर्घ काल लगा होगा जिसमें ये परिवर्तन धीरे-धीरे, अलक्षित रूप से घटित हुए होंगे । जिन चार अपभ्रंशों के नाम ऊपर गिनाये गये हैं उनके अलावा ब्राचड़, नागर और उपनागर अपभ्रंश भी देखने में आये । ये आर्य भाषा के ऊपर विदेशी प्रभाव के फल थे । अपभ्रंश भाषाओं का काल ५०० ई० से १००० ई० तक है । वज्रयानी सिद्धों और जैनों के साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश इसी काल में प्रस्तुत हुआ जिनमें तत्कालीन अपभ्रंश का स्वरूप हमें मिलता है ।

आधुनिक आर्य-भाषाएँ और हिन्दी—

भारत की आधुनिक आर्यभाषाएँ इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं की पुत्रियाँ हैं । मागधी अपभ्रंश से बंगला, उड़िया, आसामी और बिहारी (मगही, मैथिली, भोजपुरी) भाषाओं ने जन्म ग्रहण किया । अर्द्धमागधी से पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) का जन्म हुआ । शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी (खड़ीबोली, ब्रजभाषा, पुन्देलखण्डी), राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि का विकास हुआ । महाराष्ट्री अप-

भ्रंश से मराठी निकली । हिन्दी-भाषा अनेक बोलियों के समूह का नाम है । बिहारी, पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, गजस्थानी, पंजाबी, सभी हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत हैं । इन भाषाओं का काल १००० ई० से अबतक है ।

इस प्रकार हिन्दी तथा भारत की अन्य आर्यभाषाएँ जैसे— बंगला, ओड़िया, गुजराती, मराठी आदि सभी संस्कृत से ही विकसित हुई हैं, लेकिन यह विकास प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है । भाषाओं के इस विकास का अर्थ है मूलभाषा तथा बाद की भाषाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन । यह परिवर्तन अलक्ष्यरूप से दीर्घ काल में होता है । एक भाषा से दूसरी भाषा का रूप ग्रहण करने में कई शताब्दियाँ लगती हैं ।

ये परिवर्तन अनेक प्रकार से परिलक्षित होते हैं—शब्दों के भाण्डार में, शब्दों के स्वरूप में, शब्दों के अर्थ में, वाक्याव्यंश या रचना-प्रणाली में, व्याकरण में । आज हिन्दी में जितने शब्द हैं, वे सभी संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के नहीं । अनेक विदेशी जातियों के सम्पर्क के कारण हिन्दी का शब्द-भाण्डार विस्तृत हुआ है । हिन्दी के शब्द-स्वरूपों में भी संस्कृत का अपेक्षा हम अन्तर पाते हैं । लिपि में अन्तर बहुत कम हुआ है, पर हुआ है अवश्य ।

आगे इन सबका विवेचन किया गया है ।

हिन्दी-भाषी क्षेत्र और उसकी बोलियाँ

‘हिन्दी’ शब्द—

संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश की परम्परा में उत्पन्न हमारी वर्तमान भाषा का नाम ‘हिन्दी’ कब से पड़ा और हिन्दी से आज हम क्या समझते हैं, यह विचारणीय है।

हमारी भाषा के लिये ‘हिन्दी’ शब्द का सर्व-प्रथम उपयोग किसने किया यह अभी विवादग्रस्त है। फिर भी जहाँ तक पता चला है चौदहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने इस शब्द का व्यवहार किया। जिस बोली के लिये ‘हिन्दी’ या ‘हिन्दवी’ शब्द व्यवहृत हुआ था वह बोली खड़ीबोली थी। इसके बाद गोस्वामी तुलसीदास जी हुए। लेकिन उन्होंने अपनी भाषा (अवधी बोली) को ‘हिन्दी’ का नाम नहीं दिया। वे सबैत्र अपनी बोली के लिये ‘भाषा’ या ‘भाखा’ शब्द का प्रयोग करते हैं—

भाखा भनित, भोर मति थोरी।

बहुत बाद, ईशा अल्ला खाँ ने ऐग्री भाषा लिखने का प्रयास किया जिसमें ‘हिन्दवी छुट’ हो। उनकी भाषा खड़ीबोली थी। मुसलमानों ने सिन्धु नदी के पूर्व के भूमिभाग को ‘हिन्द’ कहा और इसकी भाषा को ‘हिन्दी’। (फारसी में संस्कृत ‘स’ का ‘ह’ हो जाता है।) लेकिन बराबर ‘हिन्दी’ के नाम से खड़ीबोली में हो रचना की। धीरे-धीरे खड़ीबोली में रचित वर्तमान साहित्यिक भाषा को

ही नहीं, अवधी-ब्रजभाषा आदि क्षेत्र की सभी बोलियों को जहाँ खड़ी बोली साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृत हुई, 'हिन्दी' के अन्तर्गत मान लिया गया। इस प्रकार आज जहाँ-जहाँ खड़ीबोली का आधिपत्य साहित्यिक-भाषा के रूप में है, वहाँ-वहाँ की बोलियाँ 'हिन्दी' के अन्तर्गत हैं।

हिन्दी क्षेत्र —

फलतः हिन्दी एक प्रान्तीय भाषा नहीं है। और, न वह मात्र एक बोली है। वह कुछ प्रदेशों को छोड़कर शेष सारे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा है और इस वृहत् क्षेत्र की सभ्यता-संस्कृति और जीवन-परम्परा का वाहन है। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, पञ्जाब और दिल्ली तक हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार है। इस क्षेत्र की यह साहित्यिक भाषा है—सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन का एक मात्र माध्यम।

यों, हिन्दी-भाषा क्षेत्र इससे भी बड़ा है। कलकत्ता और बम्बई ही नहीं, दक्षिण भारत तथा कुछ विदेशों में भी हिन्दी जाननेवालों की संख्या दिनानुदिन बढ़ रही है। इसीलिए हिन्दी आज भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित है। हिन्दी की बोलियाँ—

खड़ीबोली इस हिन्दी-क्षेत्र की वर्तमान साहित्यिक-भाषा है। साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ीबोली का प्रवर्तन भारतेन्दु काल (१९वीं शताब्दी) से हुआ है। इसके पूर्व

हिन्दी क्षेत्र में कई अन्य बोलियों को साहित्यिक भाषा का गौरव मिल चुका है। चौदहवीं शताब्दी में मैथिली में विद्यापति द्वारा साहित्य-सृष्टि हुई। सोलहवीं शताब्दी में जायसी तथा तुलसी आदि ने अवधी को साहित्यिक गौरव प्रदान किया। सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रधान रूप से अधिष्ठित रही। लेकिन कुछ ऐसी बोलियाँ भी हैं जिनमें पर्याप्त मात्रा में साहित्यिक रचनाएँ नहीं मिलती हैं।

बिहारी बोलियों में साहित्य मैथिली में खूब मिलता है। दरभंगा जिला और आसपास की भूमि मैथिली का केन्द्र है। विद्यापति ने तो मैथिली में साहित्य-सृष्टि कर इस बोली को महत्त्व प्रदान किया ही है, तबसे लेकर अब तक इसमें कम या अधिक परिमाण में साहित्य लिखा जा रहा है। वर्तमान काल में मैथिली में अच्छा साहित्य प्रस्तुत हो रहा है। यह साहित्य गद्य और पद्य दोनों रूपों में दृष्टिगत है।

भोजपुरी भी बिहारी बोलियों के अन्तर्गत है। इसका क्षेत्र काफी बड़ा है। बिहार के सारन और शाहाबाद जिले; उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर और बनारस के अन्तर्गत भूमिभाग भोजपुरी भाषी क्षेत्र हैं। भोजपुरी में भी साहित्य लिखा गया है, लेकिन बहुत कम। हाँ, लोकगीतों और कथाओं का भाण्डार समृद्ध है।

मगही का क्षेत्र भी विस्तृत है। पटना, गया, हजारीबाग,

पलामू, मुंगेर आदि जिले इसके अन्तर्गत हैं। लेकिन क्षेत्र-विस्तार के अनुपात में इसमें साहित्य उपलब्ध नहीं। लोकगीतों और कथाओं की खासी अच्छी निधि अवश्य मिलती है।

पूर्व उत्तर प्रदेश में पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी। अवधी में पद्मावत और रामचरितमानस जैसे ग्रन्थरत्न निर्मित हुए हैं जो हिन्दी की अक्षय निधि हैं। अवधी का क्षेत्र फैजाबाद जिला और आसपास का भूमिभाग है।

बघेली प्रयाग के लगभग बोली जाती है। इसमें साहित्य नहीं मिलता। छत्तीसगढ़ी दक्षिण उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की बोली है। साहित्य-सृष्टि के प्रमाण इसमें भी उपलब्ध नहीं।

पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ीबोली आज साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। ब्रजभाषा सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों की, रीतिकालीन कवियों की तथा भारतेन्दुयुगीन कवियों की एकमात्र साहित्यिक भाषा रह चुकी है। अब भी उसमें थोड़ा-बहुत साहित्य लिखा जा रहा है। इसका क्षेत्र है ब्रज प्रदेश (मथुरा-आगरा का भूमिभाग)।

पंजाब की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही कहो जा सकती है। पंजाबी बोलियों में अपना साहित्य बहुत नहीं। राजस्थानी बोली (डिंगल) हिन्दी के आरंभिक साहित्यिक विकास की

महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वीरगाथाकालीन साहित्य इसी बोली में निर्मित हुआ।

जिन बोलियों की चर्चा ऊपर हुई है, वे हिन्दी-क्षेत्र की प्रधान बोलियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ बोलियाँ हो सकती हैं जिनके बोलनेवाले अत्यन्त अल्प हैं अथवा उपरिलिखित बोलियों में से किसी एक से उनका अन्तर इतना अल्प है कि उन्हें स्वतंत्र बोली मानने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी का शब्द-भाण्डार

हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंश से, अपभ्रंश की प्राकृत से और प्राकृत की संस्कृत से बतलाई गई है। यह भी कहा गया है कि नई भाषा की उत्पत्ति का अर्थ है पुरानी या मूल भाषा में परिवर्तन जिसके फलस्वरूप एक नई भाषा सामने आ जाती है। यह परिवर्तन धीरे-धीरे, अलक्षित, पर अनिवार्य रूप से होता है। कालान्तर में पुरानी भाषा का शब्द-भाण्डार तब बदल जाता है और नई भाषा के नये शब्द बन जाते हैं। शब्दों के रूप-परिवर्तन का एक कारण है, प्रयत्न-लाघव या उच्चारण की सुविधा या आसानी की ओर प्रयास। उदाहरण द्वारा बात स्पष्ट होगी। संस्कृत का 'कर्पटिका' शब्द उच्चारण की दृष्टि से जब कठिन प्रतीत हुआ तो उसके स्थान में प्राकृत में कर्बड्डिया शब्द का प्रयोग हुआ, फिर वह अपभ्रंश में कपड़ा हुआ होगा और हिन्दी में 'कपड़ा' है। इसी प्रकार संस्कृत का

‘उपाध्याय’ शब्द प्राकृत में ‘उवज्झाअ’, अपभ्रंश में ‘ओज्झा’ और हिन्दी में ‘ओझा’ अथवा ‘झा’ हुआ । ‘वृद्ध’ (सं०) से ‘बुद्ध’ (प्रा०), और उससे ‘बुढ़ा’ (हिन्दी) शब्द बना । ‘कर्म’ से ‘कम्म’, ‘कम्म’ से ‘काम’; ‘धर्म’ से ‘धम्म’, ‘धम्म’ से ‘धाम’; ‘कृष्ण’ से ‘कण्ह’, ‘कण्ह’ से ‘काण्हा’ अथवा ‘कण्हैया’ आदि इसी प्रकार बने । शब्दों का इस प्रकार घिस-घिसकर उच्चारण के लिये सुगम हो जाना एक स्वाभाविक भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया है । संस्कृत से सैकड़ों-हजारों नहीं, लाखों शब्द इस प्रकार हिन्दी तथा अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के भाण्डार को आज अलंकृत कर रहे हैं ।

इस प्रकार संस्कृत से उत्पन्न हुए शब्दों को हम हिन्दी के ‘तद्भव’ शब्द कहते हैं । इन तद्भव शब्दों के अतिरिक्त इन शब्दों के तत्सम रूप भी अधिकतर आज हिन्दी में प्रयुक्त हैं । उदाहरण-स्वरूप हिन्दी में प्रयुक्त कुछ तत्सम (संस्कृत) शब्द तथा उनके तद्भव रूप नीचे दिये जाते हैं—

तत्सम	तद्भव
स्नेह	नेह
उज्ज्वल	उजला
वर्तिका	बार्ती
मृत्तिका	मिट्टी
पत्र	पत्ता
प्रिय	पिय
लकुटिका	लाठी

तत्सम	तद्भव
मुष्टिका	मुट्ठी
नयन	नैन
वचन	बैन
स्मृति	सुरति
स्मरण	सुमिरन
दृष्टि	दीठ
दक्षिण	दक्खिन
पूर्व	पूरब
पश्चिम	पच्छिम
मस्तक	माथा
हस्त	हाथ
मृत्यु	मीच
मेघ	मेह
स्वप्न	सपना
द्वि	दो
पञ्च	पाँच
षट्	छः
सप्त	सात

इस प्रकार के असंख्य शब्द तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में हिन्दी में प्रयुक्त हो रहे हैं ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। भाषा-विकास की दृष्टि से हिन्दी में तो केवल तद्भव रूप ही होने चाहिये थे। तत्सम रूप तो संस्कृत के हैं, जो पीछे छूट गये। हिन्दी में ये फिर कैसे आधमके। हिन्दी में तत्सम शब्दों का प्रयोग कब और कैसे होने लगा, यह प्रश्न विचारणीय है, क्योंकि संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में हम संस्कृत के तत्सम शब्दों से उद्भूत केवल तद्भव रूप ही पाते हैं। अपभ्रंश के बाद हिन्दी में एकाएक संस्कृत के पुराने रूपों (तत्सम) का प्रचलन एक विचित्र सी बात है। इस प्रचलन के कई कारण हो सकते हैं। संभवतः इसका प्रधान कारण धार्मिक-सांस्कृतिक है। ११ वीं शताब्दी के बाद उत्तर भारत में जो मुसलमानों का उत्तरोत्तर आधिपत्य होता गया और भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर उन्होंने जैसे हमले किये उन सबकी प्रतिक्रिया रूप में तत्कालीन समाज में एक प्रकार की धर्म-चेतना जगी जो वैष्णव मत के प्रचार के रूप में परिलक्षित हुई। वेदान्त के अन्तर्गत इस अभिनव साम्प्रदायिक प्रसारके नेता रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क, विष्णु स्वामी, मध्व और वल्लभ आदि आचार्य दक्षिणात्य होत हुए भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और उत्तर भारत की तत्कालीन जन-भाषाओं से उतने परिचित न थे जितने संस्कृत से। इनकी शिष्य-परम्परा या प्रभाव-परम्परा के अन्तर्गत जो सगुणोपासक राममार्गी या कृष्णामार्गी कवि हुए वे संस्कृत शब्दों का आग्रह नहीं छोड़ सके। इसी हेतु हम

वल्लभ के शिष्य सूरदास में अथवा रामानुज-रामानन्द की शिष्य-परम्परा में तुलसीदास में तत्सम शब्दों की ओर अधिक प्रवृत्ति देखते हैं। कबीर और जायसी, जिनका काव्य वैष्णव प्रभाव से अपेक्षाकृत रहित है, तद्भव से ही अधिक रुचि दिखलाते हैं। इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में तद्भव के साथ तत्सम शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ और फिर यह परम्परा संस्कृतज्ञ हिन्दीसेवियों की कृपा से चलती रही। आज की साहित्यिक हिन्दी में तो जितने तद्भव शब्दों का प्रयोग होता है, कभी-कभी उससे कहीं अधिक संस्कृत के तत्सम शब्दों का उपयोग किया जाता है।

संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अलावा अन्य मूल भाषाओं के तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोग भी हिन्दी में हो रहे हैं। ये ऐसे शब्द हैं जिनका कुछ कट्टर विचारों के लोग चाहे अपनी रचनाओं में बहिष्कार कर लें, लेकिन जो जनजीवन में व्यवहार से हटाये नहीं जा सकते। क्योंकि जन-भाषा की प्रकृति सरिता की गति के समान स्वयं अपना भविष्य निर्धारित करती है, व्यक्ति-विशेष के कृत्रिम उपायों या प्रचारों का उसपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। विदेशी भाषाओं के तत्सम और तद्भव शब्द जनभाषा में इतने घुल-मिलकर एकाकार हो गये हैं कि इन्हें हिन्दी शब्द-भाण्डार की ही निधि कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

हिन्दी-भाषाक्षेत्र पर दीर्घकाल तक मुसलमानों का शासन

रहने के कारण फारसी-अरबी शब्द प्रचुर मात्रा में हिन्दी में घुस आये हैं। इनमें बहुत से तो हिन्दी के इतने अपने हो गये हैं कि उनके संस्कृत तत्सम पर्यायवाची शब्दों की अपेक्षा उन विदेशी शब्दों का ही अधिक प्रयोग होने लगा है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

फारसी—जबान, इन्सान, खुदा, हालत, तौहीन, नज़र, आज्ञादी, खुशकी, बरदाश्त, क्यूल, तमीज़, ख़ामोश, बादशाह, मंज़िल, ज़हान, पैदाइश, ज़मोन, आफ़-ताब, मौसम, खुशी, ग़म, बदौलत, नसीब, क़रीब, महसूस, इतमीनान, नियामत, वगैरह।

अरबी—औरत, हाल, सिफारिश, अदालत, तनखाह, मालूम, खलल, इजलास, फ़र्क, किताब, हुक़म, मुफ़्त, ग़रीब, अदब, ज़वत, दफ़तर, हुक्का, गुस्सा, हिसाब।

तुर्की—आक्का (मालिक), उर्दू, क़ैची, क़ाबू, कुली, ख़ाँ, गलीचा, चाक़ू, चिक, तमगा, तोंप, दारोगा, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, लाश, साँगात।

पश्तो—पठान, रोहिला।

अंगरेजी शब्दों की भी हिन्दी में कमी नहीं है। फारसी के बाद अंगरेजी के शब्दों की ही संख्या आती है। अंगरेजी-राज तथा अंगरेजी-शिक्षा के प्रभाव से सैकड़ों अंगरेजी शब्द हिन्दी की दिनानुदिन व्यवहार की शैली में आ घुसे हैं। आज तो अंगरेजी-शिक्षा से वचित व्यक्ति भी बहुत से अंगरेजी शब्दों के बिना हिन्दी कठिनाई से ही बोल सकता है। नीचे कुछ अंगरेजी

तथा कुछ अन्य योरोपीय भाषाओं के शब्दों के उदाहरण दिये जाते हैं ।

अंगरेजी — अरील, अकसर, अर्दली, अस्पताल, अस्तबल, असबली, आर्डर, आफिस, इंच, इंजीनियर, इस्कूल, इस्टूल, इस्टीमर, एजेंट, ओवर-कोट, ओवर-सियर, कलटूर, कमिन्स, कम्पनी, कंपौंडर, कापी, कालर, काँग्रेस, कालिज, क्वाटर, कलर्क, किलास, कुनैन, कोट, गार्ड, गिलास, गिन्नी, गेट, गैस, विमनी, चैन, जज, जेल, टब, टिकट, टमाटर, टीम, टीन, ठेठर, डाक्टर, डिप्टी, डिगरी, डिउटी, तारकोल, दर्जन, नर्स, नोट, पल्टन, पाकिट, पालिश, पास, फीस, फेल, फोटो, बटन, बिगुल, मसान, मनेजर, मिल, मोटर, रसीद, रेल, लाट, लालटन, सरकस, सिमिट, सिलेंट, सूटकेस, हारमोनियम, हॉल, होस्टल ।

पुर्तगाली शब्द जा हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं — अतन्नास, अलमारा, अचार, इस्पात, इस्त्री, कमीज, कमरा, काज, काफ़ी, काजू, गमला, गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तम्बाकू, तौलिया, लीलाम, परान, पादरी, पिस्तौल, फीता, बालटी, बिस्कुट, बोताम, बोटल, मिछी, मेज, संतरा, साया ।

यूनानी शब्द — कीमिया, करनफल ।

फ्रांसीसी शब्द—कार्तूस, कूपन, अंगरेज ।

द्रविड़ भाषाओं से हिन्दी में बहुत कम शब्द आये हैं ।
“कोड़ी” शब्द संभवतः कोल भाषाओं से आया हुआ है ।

संस्कृत तत्सम एवं संस्कृत से विकसित तद्भव शब्दों तथा फारसी, अरबी, अंगरेजी, तुर्की, पुर्तगाली आदि भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त हिन्दी में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति अज्ञात है । संभवतः वे हिन्दी के अपने शब्द हैं जो स्वतः आवश्यकतावश उत्पन्न हो गये हैं । ऐसे शब्दों को देशज कहते हैं । ऐसे शब्दों की संख्या बहुत थोड़ी है और आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप आज देशज माने जानेवाले शब्द कल तद्भव माने जा सकते हैं ।

देशज शब्दों के कुछ उदाहरण—पेट, पगड़ी, खिड़की, डोंगी,
ढाभ, खटखट, करवट, चपेट, चटपटा,
धड़धड़, आदि ।

हिन्दी शब्द-भाण्डार में कुछ ऐसे तद्भव शब्द भी हैं, जो देशज जैसे दीखते हैं, क्योंकि उनके संस्कृत तत्सम रूप हिन्दी में प्रायः प्रयुक्त नहीं होते । पर ये देशज नहीं, तद्भव ही हैं । इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

तद्भव प्रयुक्त रूप

अफीम

आँवला

उबटन

ऊँट

तत्सम अप्रयुक्त रूप

अहिफेन

आमलक

उद्धर्तन

गोबर

चूल्हा

चौकी

सत्त

हाट

सलाई

गोबिद्

चुल्हका

चतुष्पदिका

सक्तु

हट्ट

शलाका

इसी प्रकार कुछ ऐसे संस्कृत तत्सम शब्द हैं जिनके अर्थ तद्भव रूप में कुछ बदल जाते हैं। कभी-कभी तत्सम शब्द सामान्य अर्थ में आता है, तद्भव विशेष अर्थ में। कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं—

तत्सम रूप	तद्भव रूप
गर्भिणी (मनुष्य के लिये)	गाभिन (चौपायों के लिये)
क्षेत्र (सामान्यार्थक)	खेत (अन्न उपजाने की जगह)
स्तन (केवल मनुष्यों के लिये)	थन (केवल चौपायों के लिये)
वंश (पौधा, कुल)	बाँस (केवल पौधा)
दक्षिण (दिशा, वाम का विपरीत)	दक्खिन—(दिशा)
	दाहिना—(वाम का विपरीत, केवल)
स्थान (सामान्यार्थक)	थाना (कोतवाली)
	थान (पशुशाला या देवस्थान)

हिन्दी की लिपि

हिन्दी की वर्तमान लिपि देवनागरी है। आज हिन्दी के अंक और अक्षर देवनागरी लिपि में जैसे लिखे जाते हैं, वैसे सदा से नहीं लिखे जाते रहे हैं। भाषा के समान लिपि भी परिवर्तनशील है। लेकिन अन्तर इतना अवश्य है कि लिपि के परिवर्तन भाषा-परिवर्तन की अपेक्षा बहुत ही धीरे-धीरे होते हैं। कारण, भाषा लिखित भी होती है, मौखिक भी। भाषा के मौखिक रूप में ही अधिकतर परिवर्तन पहले होते हैं। लिखित रूप को बाद में मौखिक रूप के समकक्ष लाना पड़ता है।

ब्राह्मी लिपि—

नागरी लिपि की उत्पत्ति प्राचीन ब्राह्मी लिपि से हुई है। फारसी और अरबी लिपि खरोष्ठी से उत्पन्न है। ब्राह्मी लिपि विश्व की प्राचीनतम लिपियों में से है, जिसकी उत्पत्ति जायसवाल के मतानुसार २००० ई० पू. में हो चुकी थी। अशोक के शिलालेखों में इसका प्रचुर उपयोग पाया जाता है। आगे चलकर गुप्त काल में ब्राह्मी का रूप कुछ परिवर्तित हुआ और यह लिपि गुप्त-लिपि कहलाई। छठी शताब्दी में गुप्त-लिपि के वर्णों की आकृति कुछ कुटिल हो गई, अतएव ये वर्ण कुटिलाक्षर, और यह लिपि कुटिल लिपि कहलाई।

शारदा-लिपि—

कुटिल लिपि से सम्भवतः १० वीं शताब्दी में शारदा-लिपि

का निष्क्रमण हुआ। आधुनिक काश्मीरी, टक्करी तथा गुप्तमुखी लिपियाँ शारदा पर आधारित हैं।

नागरी लिपि -

इसी समय (१० वीं शताब्दी के लगभग) नागरी लिपि ने रूप ग्रहण किया। नागरी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं—

- (१) नगरों में प्रचलित होने के कारण यह नागरी कहलाई।
- (२) नागर ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण यह नागरी कहलाई।
- (३) तान्त्रिक चिह्नों से, जिन्हें देवनागर कहा जाता था, इस लिपि का सादृश्य होने के कारण इसे देवनागरी कहा जाने लगा।
- (४) 'आर्यशामाशास्त्री' के मतानुसार प्राचीन काल में जब देवताओं की प्रतिमाएँ नहीं बनी थीं, उनकी पूजा के लिये उनके सांकेतिक चिह्न भाँति-भाँति के त्रिकोणादि मंत्रों में, जिन्हें 'देवनागर' कहते थे, लिखे जाते थे। कालान्तर में ये देवचिह्न उच्चारण-ध्वनि सूचक लिपि चिह्न बन गये। अतएव यह लिपि देवनागरी कहलाई।

दशवीं शताब्दी से अबतक देवनागरी लिपिचिह्नों में परिवर्तन नहीं के बराबर हुआ है। लेकिन ब्राह्मी के प्राचीन रूपों से ये देवनागरी रूप अत्यन्त भिन्न हो गये हैं। उदाहरणमात्र के लिये कुछ वर्णों के चित्र यहाँ दिये जा रहे हैं जिनसे उन वर्णों के क्रमिक विकास के इतिहास की भाँकी मिलेगी।

[illegible][illegible][illegible]

हिन्दी की वर्तमान लिपि समस्या

आज हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। कई राज्यों में यह राजभाषा है। इसका उत्तरदायित्व और कार्यक्षेत्र बढ़ गया है। कचहरियों में, कार्यालयों में, विश्व-विद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से कार्य-संचालन की अपेक्षा है। हिन्दी के व्यापक प्रयोग के लिये हिन्दी टाइपराइटर तथा लाइनो-टाइप जैसे यन्त्रों का प्रयोग आवश्यक है। हिन्दी की वर्तमान वर्णमाला है तो वैज्ञानिक—रोमन अथवा फारसी लिपि की वर्णमाला से कहीं अधिक वैज्ञानिक और सुशुद्ध - ; पर, हिन्दी वर्णमाला में वर्णों की संख्या बहुत अधिक है। अंगरेजी (रोमन) वर्णमाला में २६ बड़े और २६ छोटे अक्षर हैं। हिन्दी में यों तो ४६ ही वर्ण हैं। पर संयुक्ताक्षरों के विविध, बहुसंख्यक स्वरूपों को लें तो हिन्दी वर्णों की संख्या ५२ से कहीं अधिक हो जाती है—वस्तुतः यह इतनी बड़ी हो जाती है कि टाइपराइटर की छोटी जगह में उनके लिये पृथक् कुंजियों की व्यवस्था सहज सम्भव नहीं। एक ही वर्ण भिन्न-भिन्न वर्णों में संयुक्त होकर भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करता है जिसके लिये अलग-अलग लिपि-संकेतों की योजना टाइपराइटर की सीमाओं के अन्दर महाकठिन हो जाती है। उदाहरण के लिये 'क' के भिन्न-भिन्न संयुक्त रूप ही अनेक हो जाते हैं—क, क, कख, कय, कै, शक, क्त, क्क, क्क, क्क, आदि।

इसी प्रकार और वर्णों के भी समझिये । इतने भिन्न-भिन्न संयुक्त रूप टाइपराइटर में कहाँ मिलेंगे ? और आधुनिक सामाजिक जीवन में टाइपराइटर आदि वैज्ञानिक यन्त्रों के अभाव में हिन्दी का समुचित प्रसार असम्भव है ।

टाइपराइटर की आवश्यकताओं के अतिरिक्त नागरी लिपि को अधिक सरल बनाने की आवश्यकता का भी अनुभव किया गया है, जिसमें अहिन्दी-भाषी लोगों को हिन्दी सीखने में लिपि की कठिनाइयों का कम-से-कम मात्रा में, सामना करना पड़े । इसी हेतु, नागरी लिपि में कुछ सुधार के प्रस्ताव समय-समय पर रखे गये हैं और प्रस्ताव रूप में कुछ साहित्य भी इस सुधरी लिपि में छपता रहा है । इन विभिन्न प्रस्तावों के सार रूप में, लिपि-सुधार योजना के अन्तर्गत नागरी वर्णों के विविध स्वरूप क्या हैं, यह द्रष्टव्य है ।

वर्णों की संख्या कम करने के उद्देश्य से स्वर वर्णों की अनेकरूपता को अनावश्यक समझा गया । अतएव अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः, इन सभी वर्णों का काम केवल एक वर्ण अ से चलाया गया है, और ये विविध स्वर वर्ण इस प्रकार लिखे गये हैं :—

अ आ अि अी अु अू अे अै ओ औ अं अः ।

अतएव इ ई उ ऊ ए ऐ—इन छः वर्णों की बचत की गई है और मात्राओं के व्यवहार के सहारे इन ध्वनिसंकेतों को व्यक्त किया गया है ।

संयुक्ताक्षरों के व्यञ्जन वर्णों को अलग-अलग लिखकर उनके नीचे यथावश्यकता 'हल' अथवा उनके बीच संयोजक चिह्न लगाया जाता है। जैसे, 'प्रश्न' इस प्रकार लिखा जायगा—

प्रश्न् अथवा प-र-श-न

'क्षत्र' इस प्रकार लिखा जायगा—

कूपान् अथवा क-षा-त-र

एकार-ऐकार तथा उकार-ऊकार की मात्राओं को ऊपर-नीचे नहीं लगाकर बाएँ दाहिने लगाने की योजना है, जिसमें स्थान की बचत हो।

लिपि-सुधार की इस योजना को बहुत से विद्वान् लिपि-विगाड़-योजना मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में इससे लिपि की वर्तमान सुन्दरता तो नष्ट होती ही है, साथ ही हम अपनी लिपि सम्बन्धी हजार वर्षों की पुरानी परम्परा से अचानक ऐसे अलग हो जाते हैं कि अबतक प्रकाशित-अप्रकाशित पुरानी लिपि में संचित साहित्य को पढ़ने में भी हमें कठिनाई होने लगेगी। टाइपराइटर में यांत्रिक परिष्कार करके ही समस्या का समाधान कर लेना बेअपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। अतएव अभी व्यापकरूप से इस परिवर्तित लिपि-योजना को लोक-प्रियता नहीं प्राप्त हुई है।

हिन्दी की वर्तमान लिपि-समस्या का एक और पक्ष भी विचारणीय है। हिन्दी की लिपि नागरी है। संस्कृत की लिपि

भी प्रयः हिन्दी की लिपि से अभिन्न है । बंगाली, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में थोड़ा अन्तर है, लेकिन उनकी लिपि देवनागरी बहुत ही मिलती-जुलती है । आसामी और ओड़िया लिपियाँ कुछ अधिक भिन्न हैं । पर नागरी लिपि इन सभी प्रांतीय भाषाओं की लिपियों का मूल है । नागरी लिपि को भारत की राष्ट्रलिपि के ही रूप में नहीं, वरन् उत्तर भारत के अहिन्दी क्षेत्रों की भाषाओं (जैसे - बंगला, गुजराती, मराठी, आदि) की आधारभूत लिपि मान लेने से परस्पर भाषा-बाध में अत्यधिक सुविधा हो सकती है । पर, अहिन्दी प्रान्तों का लोकमत अभी इस विचार के पक्ष में नहीं ।

— — —

हिन्दी व्याकरण के कुछ पहलू

व्याकरण और उसकी सीमा

व्याकरण किसी भाषा के व्यावहारिक नियमों का विवेचन करनेवाला शास्त्र है जिसके अध्ययन से भाषा के शुद्ध रूप से हम परिचय प्राप्त करते हैं। व्याकरण मानव द्वारा उद्योगपूर्वक निर्मित भाषा सम्बन्धी कृत्रिम विधान नहीं है, जो किसी भाषा के लिखने बोलनेवालों पर आरोपित कर दिया गया हो। व्याकरण उन नियमों की शृंखला है जो किसी जीवित, व्यवहृत भाषा के व्यवहारों में पाये गये हैं और बाद में वर्गीकृत कर लिये गये हैं। अतएव, वैयाकरण, व्याकरण के नियमों का एकछत्र विधाता नहीं, वह उनका अन्वेषक है। वस्तुतः नियम भाषा में पहले से काम करते होते हैं। वैयाकरण केवल उन्हें भाषा-प्रयोगों के प्रचुर भाण्डार में से खोज खोजकर उनको सुशृंखल रूप में हमारे सामने रखता है, जिसमें हम भी भाषा का उसी रूप में व्यवहार करें, जैसे होता आया है, जिसमें भाषा की एकरूपता तथा सुबोधता अक्षुण्ण रहे। इसीलिये व्याकरण का अध्ययन हमें भाषा के प्रचलित प्रयोगों से परिचित मात्र कराता है, प्रयोगों के औचित्य पर अन्तिम निर्णय नहीं देता ! व्याकरण की दृष्टि से अमुक बात शुद्ध है, अमुक अशुद्ध, इसका अर्थ यही लेना

चाहिये कि अमुक बात का प्रयोग प्रचलित भाषा-व्यवहार में उसी रूप में होता है, अमुक बात का नहीं। एकरूपता की दृष्टि से व्याकरण के आदेश को मानना उचित है। लेकिन, कभी-कभी, कोई महान् शैलीकार अपने ढंग से भाषा के किसी रूप का व्यवहार करता है और उसकी भाषा में अपेक्षित भाव-व्यञ्जकता और शक्ति होने के कारण उसका प्रयोग व्याकरण विरुद्ध होते हुए भी अगुद्ध माना जाकर निन्दित नहीं होता। महान् शैलीकारों की रचनाओं का अनुगमन स्वयं व्याकरण भी करता है।

फिर भी अध्येताओं के लिये, लोक-व्यवहार के लिये तथा सामान्यरूप से भाषा में रचना के लिये व्याकरण के नियमों की जानकारी हितकर ही नहीं, आवश्यक भी है। क्योंकि इसके अभाव में भाषा सम्बन्धी जो अराजकता फैल सकती है वह भाषा की वाचक शक्ति में अत्यन्त बाधक होगी।

नीचे इसी हेतु व्याकरण के कुछ ऐसे सामान्य नियमों का विवेचन किया जा रहा है, जिनका ध्यान रखना हिन्दी लिखने-बोलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपयोगी है।

व्याकरण के मुख्य तीन विभाग हैं—वर्णविचार, शब्दविचार और वाक्यविचार। निह्वविचार उसका एक गौण भाग है। छन्दविचार को भी व्याकरण के अन्तर्गत माना जाता है, लेकिन अलंकार शास्त्र की तरह छंदशास्त्र भी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत एक स्वतंत्र अध्ययन-अन्वेषण का क्षेत्र है।

वर्णविचार—

शब्द के अन्तिम अविभाज्य खण्ड को वर्ण या अक्षर कहते हैं। विशिष्ट मूल ध्वनियों के लिपि-संकेत ये ही अक्षर हैं। हिन्दी भाषा की देवनागरी लिपि में कुल ४६ अक्षर हैं, जो इस प्रकार हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ अं अः = १३

व्यञ्जन—क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह = ३३

अनुस्वार ँ ऌ ड ण् न् म् को अनुनासिक कहते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में नासिका का सहारा लेना पड़ता है।

स्वर—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुखद्वारा कम या अधिक तो किया जाता है, किन्तु न तो कभी बिल्कुल बन्द किया जाता है और न इतना अधिक बन्द कि निःश्वास रगड़ खाकर निकले।

व्यञ्जन—ऐसा न होने से ध्वनि को व्यञ्जन कहते हैं। अर्थात् जब उच्चारण-प्रक्रिया में मुखद्वारा को बन्द करना पड़े या निःश्वास में विशेष घर्षण हो तो ध्वनि व्यञ्जन कहलाती है।

अल्पप्राण—वे ध्वनियाँ हैं जिनमें ह-कार की ध्वनि मिश्रित नहीं होती, जैसे क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, द्, प्, ब्, आदि ।

महाप्राण—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में ह-कार की ध्वनि मिश्रित होती है । जैसे—ख्, घ्, छ्, भ्, ठ्, ड्, थ्, ध्, फ्, भ्, आदि ।

घोष—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वर तंत्रियों की सहायता ली जाती है । जैसे—ग्, घ्, ज्, भ्, ङ्, ढ, द्, ध्, ब्, भ्, ये सभी अक्षर घोष हैं ।

अघोष—ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों की सहायता नहीं ली जाती है जैसे—क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, प्, स्, आदि ।

हिन्दी की ये ध्वनियाँ प्राचीन वैदिक ध्वनियों से कुछ अंशों में भिन्न हो गई हैं, यद्यपि इनका मूल वे प्राचीन ध्वनियाँ ही हैं । वैदिक काल में प्रचलित तीन स्वरों का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता । ये स्वर हैं—ऋ, लृ, लृ । कई स्वर और व्यंजन प्रयुक्त तो होते हैं, पर उनका उच्चारण अब वैदिक काल जैसा शायद नहीं होता । ऋ आँर ए के सम्बन्ध में तो कम-से-कम यह अवश्य कहा जा सकता है । पाली-प्राकृत काल में भी वर्णमाला में कुछ परिवर्तन हुए । पाली में केवल दस स्वर थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ । ऋ, ऐ, ओ, नहीं पाये जाते ।

व्यंजनों में श्, ष् के स्थान पर भी स् का व्यवहार ही पाया जाता है। प्राकृत ध्वनि-समूह भी पाली से मिलता-जुलता है।

हिन्दी में कुछ और नई ध्वनियाँ अरबी-फारसी की बदौलत आई—

क, ख, ग, ज, फ।

हिन्दी में प्रचलित अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में इनका व्यवहार होता है।

अंग्रेजी के प्रभाव से अँ, आँ का प्रयोग भी होने लगा है, जैसे कॉलेज।

व्यंजन वर्णों के तीन भेद हैं—स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्म।

स्पर्श वर्ण—जो अक्षर कण्ठ, तालु आदि स्थानों को छूकर बोल जाते हैं, उन्हें 'स्पर्श' कहते हैं। इसके पाँच वर्ग हैं—

१. कवर्ग—क ख ग घ ङ (कण्ठ्य)

२. चवर्ग—च छ ज झ ञ (तालव्य)

३. टवर्ग—ट ठ ड ढ ण (मूर्द्धा)

४. तवर्ग—त थ द ध न (दन्त्य)

५. पवर्ग—प फ ब भ म (ओष्ठ्य)

कण्ठ्य वे वर्ण हैं जिनका उच्चारण केवल कण्ठ से होता है।

तालव्य वर्णों के उच्चारण में तालु की सहायता अपेक्षित होती है। मूर्द्धन्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा के अग्रभाग से मूर्द्धा का स्पर्श करना होता है। दन्त्य वर्ण जिह्वा के अग्रभाग द्वारा

दाँतों का स्पर्श कर बोले जाते हैं। तथा, ओष्ठ्य वर्ण दोनों ओठों की सहायता से उच्चरित होते हैं।

ऊष्म वर्ण—जिन वर्णों के उच्चारण में घर्षण के कारण गरम वायु निकलती है उन्हें ऊष्म कहते हैं।

अन्तःस्थ—वे वर्ण हैं जिनकी स्थिति स्पर्श और ऊष्म के बीच में है।

कवर्ग के अतिरिक्त अ, आ, और ह कण्ठ्य हैं। चवर्ग के अतिरिक्त इ, ई, य और श तालव्य हैं। टवर्ग के अतिरिक्त ऋ, र और ष मृद्धन्त्य हैं। तवर्ग के अतिरिक्त ल और स दन्त्य हैं। पवर्ग के अतिरिक्त उ और ऊ ओष्ठ्य हैं। ए और ऐ कण्ठतालव्य हैं। ओ और औ कण्ठोष्ठ्य हैं। व दन्त्योष्ठ्य है। तथा, अनुस्वार एवं ङ, ञ, ण, न, म अनुनासिक भी कहलाते हैं।

अरबी-फारसी ध्वनियाँ से लिये गये ये वर्ण—क़, ख़, ग़, तो कण्ठ्य ही हैं, पर ज़ दन्त्यतालव्य तथा फ़ दन्त्योष्ठ्य हैं।

संयुक्त व्यंजन—जब व्यंजनों के बीच में स्वर नहीं रहते तब वे मिलाकर लिखे जाते हैं। इस प्रक्रिया को 'संयोग' कहते हैं। जैसे—पञ्च, कृष्ण, प्रश्न।

किसी व्यंजन का उसी व्यंजन से यदि संयोग हो तो इसे 'द्वित्व' कहते हैं। जैसे—क, त्त, इ।

महाप्राण के द्वित्वाक्षर का उच्चारण कठिन होने के कारण संयोग का पूर्ववर्ण अल्पप्राण ही रहने दिया जाता है। जैसे—अच्छा, शुद्ध।

वर्ग का पञ्चम वर्ण यदि संयोग के आरम्भ में हो तो इसे अनुस्वार में भी लोग बदल देते हैं। यह अनुस्वार शब्दान्तर्गत पूर्ववर्ती वर्ण पर स्थित होता है।

संस्कृत के नियमानुसार प्रायः दन्त्य स के साथ त, थ का, तालव्य श के साथ च, छ का और मृद्धन्त्य ष के साथ ट, ठ का संयोग होता है। जैसा—स्थान, निश्चय, पुष्टि।

दो से अधिक अक्षरों के संयोग भी होते हैं।

हिन्दी शब्दों में कभी-कभी व्यञ्जन के साथ रहनेवाले अ का उच्चारण नहीं होता, विशेषकर शब्दान्त अ का। जैसे रात, दिन, कमल, मन, बचपन।

स्वराघात—किसी शब्द के उच्चारण में प्रत्येक अक्षर पर स्वर का जो धक्का लगता है उसे 'स्वराघात' कहते हैं। जैसे, पत्त, अज्ञ, विपत्ति, मातृ।

कभी-कभी द्व्यर्थक शब्दों के प्रसंग में अपेक्षित अर्थ की जानकारी में स्वराघात सहायक होता है। नीचे उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा

१. जरूरत भर पैसे कमा।

२. ज्वर का ताप कमा ?

अथवा—

१. तू बच्चों को पडा।

२. मैंने ग्रन्थ पडा।

सन्धि—दो वर्णों के योग से कभी-कभी जो विकार होता है उसे सन्धि कहते हैं। संयोग और सन्धि में अन्तर है—संयोग में मिलने वाले वर्ण मिलने पर भी बदलते नहीं; परन्तु सन्धि में मिलनेवाले वर्णों में से एक अथवा दोनों कुछ बदल जाते हैं और एक तीसरा ही वर्ण बन जाता है। संयोग केवल व्यञ्जनों में होता है, किन्तु सन्धि स्वर और व्यञ्जन, दोनों में होता है।

शब्द-विचार

‘शब्द’ शब्द के अनेक अर्थ—

‘शब्द’ के अनेक अर्थ होते हैं।

व्यापक अर्थ में ‘शब्द’ से सामान्य रूप में किसी भी ध्वनि का बोध होता है। जैसे—‘अरे, देखो तो, यह ‘धम्म’-सा कैसा शब्द हुआ? कोई गिरा क्या?’ इस वाक्य में ‘शब्द’ ध्वनि-मात्र का बोधक है।

पर व्याकरण में ‘शब्द’ द्वारा हम सार्थक शब्द ही समझते हैं, निरर्थक शब्द से हमारा सम्बन्ध नहीं। जैसे—कमल, आना, मैं, साहसी, परन्तु, आदि। इस प्रकार के सार्थक शब्द वर्णात्मक हुआ करते हैं। ये शब्द वर्णों के समूह से बनते हैं।

सार्थक मानते हुए भी हमारा ‘शब्द’ से सदैव एक ही मन्तव्य नहीं होता। भिन्न-भिन्न प्रयोगों में ‘शब्द’ की अर्थ-

सीमाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे, जब हम कहते हैं कि अंग्रेजी का 'brother' शब्द, लैटिन 'frater' शब्द, फारसी 'बेरादर' शब्द, संस्कृत 'भ्रातृ' शब्द और हिन्दी 'भ्राता' शब्द एक ही हैं; तो हमारा मतलब शब्द के उच्चारित या लिखित बाह्य स्वरूप से नहीं होता, वरन् अर्थ से होता है। हमारा मन्तव्य होता है कि इन भिन्न-भिन्न स्वरूपों के अन्दर एक ही अर्थ का निवास है।

परन्तु जब हम कहते हैं कि संस्कृत का 'वृद्ध' शब्द, प्राकृत में 'वुड्ढ' हो गया और हिन्दी में 'बूढ़ा' हो गया, तो हमारा आशय शब्द के उच्चारित या लिखित स्वरूप से होता है, उसके अर्थ से नहीं।

व्याकरण में हमारा सम्बन्ध न तो सर्वथा बाह्य संकेतों से होता है, न शब्द के अर्थ मात्र से। व्याकरण 'शब्द और अर्थ' के सम्बन्ध का निरूपण करता है। अतएव शब्द और अर्थ की सापेक्षिक स्थिति का अध्ययन व्याकरण के शब्द-विचार में अभीष्ट होता है। यह सापेक्षिक स्थिति वाक्य विधान में शब्द के स्थान और प्रयोग-विशेष पर भी बहुत कुछ निर्भर है। अतएव व्याकरण में हम वाक्य की पीठिका में ही शब्द की विशेषताओं की खोज करते हैं। शब्द वाक्य के अंश—लघुतम सार्थक अंश—के रूप में हमारे सामने आते हैं। शब्द-विचार में इसी रूप में इनका विचार होता है।

शब्द और अर्थ—(शब्द-शक्तियाँ)

शब्द द्वारा अर्थ किस प्रकार ग्रहण किया जाता है ? शब्द के अन्दर एक प्रकार की शक्ति होती है, उसीके कारण । इस शक्ति को शब्द शक्ति कहते हैं । जिस शब्द में अर्थ-द्योतन की शक्ति पर्याप्त नहीं, उसे निःशक्त शब्द कह सकते हैं ।

शब्द-शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—

१. अभिधा
२. लक्षणा
३. व्यञ्जना

अतएव शब्द तीन प्रकार के—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तथा अर्थ तीन प्रकार के—अभिधार्थ या वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ—होते हैं ।

अभिधा—

अभिधा शक्ति द्वारा किसी शब्द का प्रसंग में अपेक्षित रूढ़ या नियत अर्थ ग्रहण किया जाता है । जैसे—राम तेजस्वी थे । यहाँ, 'राम' शब्द से 'दशरथ के पुत्र' का अर्थ हम इसीलिये ग्रहण करते हैं, क्योंकि यह अर्थ 'राम' शब्द के साथ रूढ़ हो गया है ।

अनेकार्थक शब्दों का प्रसंगोचित अर्थ-निर्णय का काम भी अभिधा शक्ति का ही है । जैसे—आजकल हरि सिनेमा नहीं देखता । इस उदाहरण में 'हरि' शब्द अनेकार्थक है । उसके विभिन्न अर्थ हैं—विष्णु, कृष्ण, बन्दर, हरि नाम का व्यक्ति, आदि । किन्तु, अभिधा शक्ति के कारण 'सिनेमा' आदि

शब्दों के साहचर्य से 'हरि' शब्द का अर्थ 'हरि नाम का व्यक्ति' ही हम ग्रहण करेंगे, विष्णु, कृष्ण, बन्दर आदि नहीं ।

रचना की दृष्टि से वाचक शब्द के तीन भेद हैं—

i. रूढ़

ii. यौगिक

iii. योगरूढ़

रूढ़ वे शब्द हैं जिनके अर्थ नियत हैं और जो अविभाज्य हैं । जैसे—गाय, बैल, चाँद, सूरज, आदि ।

यौगिक शब्द दो या अधिक रूढ़ शब्दों के योग से बनते हैं और इन शब्दों के आधार पर इनके अर्थ नियत किये जाते हैं । जैसे—पाठशाला, गोशाला, पुस्तकालय, आदि ।

योगरूढ़ शब्द वे हैं जो दो या अधिक रूढ़ शब्दों के योग से बनते तो अवश्य हैं, और इस दृष्टि से जो यौगिक तो हैं, पर सामान्य रूप से अनेकार्थक होते हुए भी जिनका अर्थ किसी एक रूप में रूढ़ हो जाता है । जैसे—सरसिज, पयोद, आदि । सरसिज शब्द में दो खण्ड हैं—सरसि + ज । नदी या तालाब में जो उत्पन्न है, वह सरसिज है, ऐसा सामान्य अर्थ हुआ जिसके अनुसार कमल, काँई, सेंवार, विविध कोटि के जीवादि—ये सभी सरसिज के अर्थ होने चाहिये । पर हम केवल पद्मा अर्थ (कमल) ही लेते हैं । कमल के अर्थ में सरसिज शब्द रूढ़ हो गया है । अतएव वह योगरूढ़ शब्द है । पयोद का अर्थ भी इसी प्रकार हम बादल,

नल (पानी का कल), स्टेशन के पानी-पाँड़े, आदि सभी रूप में न लेकर केवल प्रथम रूप में लेते हैं ।

लक्षणा—

जहाँ अभिधा से अर्थ ग्रहण सम्भव नहीं होता वहाँ लक्षणा शक्ति का उपयोग होता है । लक्षणा शक्ति के उपयोग के लिये तीन बातें आवश्यक हैं—

१. अभिधार्थ (या वाच्यार्थ) का बोध ; अर्थात् जहाँ अभिधा का अर्थ असंगत प्रतीत हो ; जहाँ अभिधा से काम नहीं चले ।
२. अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ में सम्बन्ध ; अर्थात् अभिधा तथा लक्षणा से ग्रहण किये जानेवाले किसी शब्द या पद-विशेष के अर्थों में किसी-न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य हो । यों ही, किसी वाचक शब्द का कुछ भी अन्य लक्ष्यार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । लक्ष्यार्थ का उस शब्द के वाच्यार्थ से कुछ संगत सम्बन्ध होना जरूरी है ।
३. रूढ़ि अथवा प्रयोजन ;
कहीं-कहीं केवल रूढ़ि के कारण लक्षणा-शक्ति का व्यवहार किया जाता है । पर कहीं-कहीं लक्षणा का प्रयोग किसी विशेष अर्थ को या मन्तव्य को व्यक्त करने के प्रयोजन से होता है । इस दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हुए—

(१) रूढ़ि लक्षणा ।

(२) प्रयोजनवती लक्षणा ।

उदाहरण द्वारा ऊपर के विचार स्पष्ट हो जायेंगे ।

(१) भारत स्वतन्त्र है । (रूढ़ि लक्षणा)

(२) मेरा घर गंगा पर है । (प्रयोजनवती लक्षणा)

(गंगायाम् घोषः)

पहले उदाहरण में भारत शब्द लक्षक है । उसका अभिधा के द्वारा हम अर्थ ग्रहण कर सकते हैं, पृथ्वी का एक भूमि-भाग । भूमि-भाग जड़ है, अतएव वह न स्वतंत्र है, न परतंत्र । स्वतंत्रता चेतन का गुण है । अतएव अभिधा से जो अर्थ लिया जा सकता है वह प्रसंग में असंगत है । फलतः हम लक्षणाशक्ति की सहायता लेते हैं । लक्षणा द्वारा हम भारत का अर्थ लेते हैं, भारतवासी । अभिधार्थ (भारत कहलानेवाला भूमिभाग) और लक्ष्यार्थ (भारत के निवासी) में आधार-आधेय सम्बन्ध है । आधार के कथन द्वारा आधेय (भारतवासी) का अर्थ हम ग्रहण करते हैं । यहाँ लक्षणा के उपयोग का कोई विशेष प्रयोजन नहीं, 'भारतवासी स्वतंत्र हैं' ऐसा कहने से भी काम चल सकता था । लेकिन भारतवासी के बदले 'भारत' शब्द रूढ़ हो गया है । अतः यहाँ रूढ़ि लक्षणा है ।

दूसरे उदाहरण में 'घर गंगा पर' पद लक्षक है । अभिधा से यहाँ अर्थ-संगति नहीं बैठती, क्योंकि गंगा पर (अर्थात्

गंगा के प्रवाह या जल पर) घर की स्थिति असम्भव है । फलतः गंगा का अर्थ हम गंगा का (प्रवाह नहीं) तट लेते हैं । गंगा का अर्थ तट हम अभिधा से नहीं ले सकते । यह लक्षणा का अर्थ है । यहाँ अभिवार्थ और लक्ष्यार्थ में सामीप्य सम्बन्ध है । इसी सामीप्य सम्बन्ध के कारण यहाँ गंगा का अर्थ गंगा तट लेना संगत है । इसके अतिरिक्त इस लाक्षणिक पद का प्रयोग रूढ़ि या प्रचलन के कारण नहीं हुआ है, वरन् एक विशेष मन्तव्य की अभिव्यक्ति लक्षणा का प्रयोजन है । वक्ता कहना चाहता है कि उसका घर गंगातट पर है, अतः वह शीतलता, पवित्रता, निर्मलता, आदि से संयुक्त है । शीतलता, पवित्रता आदि गंगा के प्रवाह के गुण हैं, तट के नहीं । इसीलिये 'घर गंगा पर' इस लाक्षणिक पद का प्रयोग आवश्यक हुआ । विशेष मन्तव्य की अभिव्यक्ति प्रयोजन होने के कारण यहाँ लक्षणा प्रयोजनवती है ।

रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा में से प्रत्येक के दो भेद हैं—१. गौणी, २. शुद्धा ।

इनके पुनः दो-दो भेद हैं—१. उपादान लक्षणा २. लक्षणा लक्षणा ।

और फिर दो-दो प्रकार के भेद दोनों के हैं—१. सारोपा, २. साध्यवसाना ।

गौणी लक्षणा - जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण

क्रिया जाय, उसे गौणी लक्षणा कहते हैं। उदाहरण—मुख चन्द्रमा है।

शुद्ध लक्षणा—शुद्ध लक्षणा में सादृश्य सम्बन्ध नहीं होता। अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच हो सकता है। जैसे—सामीप्य सम्बन्ध, आधार-आधेय-सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध अंगांगीभाव सम्बन्ध, तादृश्य सम्बन्ध, तात्कर्म्य-सम्बन्ध, आदि।

उदाहरण—

सामीप्य सम्बन्ध—‘गंगा पर घर है।’ यहाँ तट और गंगा के प्रवाह में सामीप्य सम्बन्ध है। यह उदाहरण प्रयोजनवती शुद्ध लक्षणा का है।

उपादान लक्षणा—इस लक्षणा में वाच्यार्थ अपने अन्वय के सिद्धि के लिये अपना अर्थ (वाच्यार्थ) न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींचकर ले आता है। अतएव इसे ‘अजहन् स्वार्था’ भी कहते हैं।

उदाहरण—

भाले आ रहे हैं। (कुंताः प्रविशन्ति) यहाँ ‘भाले’ का अर्थ भाले लिये हुए मनुष्य लिया जायेगा। अतएव ‘भाला’ शब्द का मुख्यार्थ (भाले) के साथ ही साथ एक अन्य अर्थ (मनुष्य) का आगम हो जाता है। इसलिये उपादान लक्षणा है। लक्ष्यार्थ आधार-आधेय-सम्बन्ध से लिया जाता है। तथा, लक्षणा के उपयोग का विशेष

प्रयोजन है—आनेवाले मनुष्यों को रक्षाकार्य में या प्रहार में समर्थ बतलाना ।

अतएव यह उदाहरण प्रयोजनवती शुद्धा उपादान लक्षणा का है ।

लक्षणा लक्षणा—जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिये वाच्यार्थ को बिल्कुल छोड़कर तत्संबंधी अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ लक्षणा लक्षणा होती है । वाच्यार्थ के सबंधा त्याग के कारण इस लक्षणा को 'जहन् स्वार्था' भी कहते हैं ।

'गंगा पर घर है' । इस उदाहरण में 'गंगा' शब्द का अर्थ तट लिया जाता है, प्रवाह (वाच्यार्थ) बिल्कुल छोड़ दिया जाना है । अतएव यहाँ लक्षणा लक्षणा है ।

सारोपा लक्षणा—जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय—दोनों का शब्द द्वारा कथन किया जाये वहाँ सारोपा लक्षणा होती है ।

'मुख चन्द्र है ।' गौणी लक्षणा के इस उदाहरण में सारोपा-लक्षणा है । क्योंकि आरोप्यमाण (चन्द्र) और मुख (आरोप का विषय) दोनों का शब्द द्वारा कथन हुआ है ।

साध्यवसाना लक्षणा—जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है ।

किसी सुन्दरी के मुख को देखकर अगर कहा जाय कि

‘चन्द्र है’ तो यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई। क्योंकि मुख (आगोप के विषय) का शब्द द्वारा कथन नहीं है।

‘भाले आ रहे हैं।’ यह उदाहरण साध्यवसाना का है। पर यदि कहा जाय, वे भाले आ रहे हैं’ तो ‘वे’ सर्वनाम द्वारा आरोप के विषय का निर्देश हो जायगा और तब लक्षणा सागोपा होगी। रूपकातिशयोक्ति अलंकार में साध्यवसाना लक्षणा रहती है।

लक्षणा के और भी भेद किये जा सकते हैं—गूढ़व्यंग्या-अगूढ़व्यंग्या, पदगत-वाक्यगत, धर्मगत-धर्मिगत, आदि। पर, इनका विवेचन यहाँ विस्तार-भय से तथा अनावश्यक समझ कर नहीं किया जा रहा है।

व्यञ्जना—

अभिधा और लक्षणा जब अपने-अपने अर्थों का बोध कराके विरत (शान्त) हो जाती हैं, और तब पुनः किसी अर्थ का बोध होता है, तो वह व्यञ्जना-शक्ति के कारण होता है, और उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। व्यञ्जना शक्ति शब्द के विशेष अर्थ पर प्रकाश डालती है। (वि + अञ्जन)। व्यंग्यार्थ को ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमान आदि भी कहते हैं। इस व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा नहीं करा सकती। यह व्यञ्जना से ही संभव है।

‘गंगा पर घर है’ इस उदाहरण में अभिधा इतना ही बतलाती है कि घर गंगा (अर्थात् प्रवाह) के ऊपर स्थित है

जो असंगत है। अतः लक्षणा से हम काम लेते हैं। लक्षणा से मात्र इतना ही जाना जाता है कि घर गंगा के प्रवाह पर नहीं, तट पर है। बस, इसके पश्चात् जो हम यह अर्थ लेते हैं कि घर अत्यन्त शीतल, पवित्र, मनोरम स्थान पर है, वह लक्षणा-शक्ति के सहारे नहीं, व्यञ्जना शक्ति के सहारे।

वाचक और लक्षक तो केवल शब्द ही होते हैं, पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों होते हैं। अतएव व्यञ्जना के दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी।

(क) शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—

१. अभिधा-मुत्ता -- जब हम अभिधा का अर्थ ग्रहण करने के पश्चात् व्यंग्यार्थ का ग्रहण करते हैं।

२. लक्षणा सूत्रा -- जब अभिधा का बोध होने के कारण लक्षणा द्वारा अर्थ प्रतीति होने के पश्चात् व्यंग्यार्थ ग्रहण किया जाता है। प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन 'यही व्यञ्जना का अर्थ ध्वनित करता है।

(ख) आर्थी व्यञ्जना के वक्तृवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, बोधव्य-वैशिष्ट्य प्रयुक्ता, काकुवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, वाक्यवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, वाच्यवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य प्रयुक्ता प्रस्तावकवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, देशवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, कालवैशिष्ट्य प्रयुक्ता, चेष्टावैशिष्ट्य प्रयुक्ता—ये दस भेद हैं। इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं

ताःपर्यायवाच्यता - 'वाक्य के पदों के अर्थ का परस्पर

अन्वय अर्थात् एक पद के अर्थ का दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध का बोध करानेवाली शक्ति को तात्पर्याख्या धृति कहते हैं ।'

ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे 'ध्वनि' कहते हैं ।* काव्यसाहित्य के अन्तर्गत आस्वादनीय रस की ध्वनि होती है ।

शब्दों के भेद—शब्द दो प्रकार के होते हैं—विकारी और अविकारी ।

प्रयोग के अनुसार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया विकारी के तथा क्रियाविशेषण, सम्बन्धबोधक, समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक अविकारी (अव्यय) के भेद हैं । †



* काव्यकल्पद्रुम—कन्हैयालाल पोद्दार ।

† हिन्दी व्याकरण के अन्य सामान्य नियमों की जानकारी के लिये देखिये—“हिन्दी व्याकरण चन्द्रोदय”—लेखक, आचार्य श्री रामलोचन-शरण ।

साहित्यिक रचना-विधान और उसके तत्त्व

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी-रचना के भाषा-पक्ष का विवेचन करना अभीष्ट नहीं । वर्णों, शब्दों और वाक्यों के शुद्ध मौखिक और लिखित प्रयोगों की जानकारी शुद्ध रचना के लिये आवश्यक अवश्य है । पर, यह एक स्वतंत्र विषय है और इसके लिये व्याकरण की रचना-सम्बन्धी कोई अच्छी सी पुस्तक द्रष्टव्य है ।* यहाँ हिन्दी रचना के विविध भेदों या विधानों पर विचार किया जायगा ।

रचनात्मक साहित्य—

‘रचना’ मौलिक निर्माण को कहते हैं । अतएव, रचनात्मक साहित्य की कोटि में वे सभी साहित्यविधान आते हैं जिनमें लेखक की मौलिक सृजन-शक्ति का उपयोग होता है । इसके विपरीत वैज्ञानिक साहित्य में, लेखक इस व्यक्त जगत् और जीवन के तथ्यों, सत्त्यों, सिद्धान्तों को यथानुसंग रूप में प्रस्तुत करता है । भूगोल की किसी पुस्तक में लेखक किसी नये पर्वत का, नई नदी का या घाटी का निर्माण नहीं करता, केवल प्रकृति

* शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना आदि सम्बन्धी नियमों की जानकारी के लिये देखिये “रचना चन्द्रोदय”—लेखक, आचार्य श्री राम-लोचनशरण ।

के बनाये पदार्थों को जैसा-का-तैसा वर्णन कर देता है और उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्धों का वैज्ञानिक विवेचन करता है। पर एक कहानीकार नवीन पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों का निर्माण करता है। इस निर्माण में वह अपनी भावप्रेरित कल्पना का सहारा लेता है। इसलिये रचनात्मक साहित्य लेखक की अपनी कृति है जिसमें उसके व्यक्तित्व — उसकी भावना और कल्पना — को वाणी मिलती है।

इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में है—

१. रचनात्मक साहित्य के अर्थ में, २. वैज्ञानिक साहित्य के अर्थ में।

हमारे विवेच्य विषय—रचनात्मक साहित्य—के अनेक भेद हैं—

१. कविता
२. कहानी, उपन्यास, आदि
३. नाटक
४. निबन्ध, गद्य-गीत
५. जीवन, शब्दचित्र, आदि
६. रिपोर्टाज
७. आलोचना के कुछ प्रकार

आलोचना का स्थान वैज्ञानिक साहित्य के अन्तर्गत ही होना चाहिये, क्योंकि आलोचना स्वतंत्र निर्माण नहीं, पूर्वनिश्चित वस्तु की नाप-तौल है। पर आलोचना के कुछ ऐसे भेद भी हैं जिनमें

लेखक का व्यक्तित्व अनिवार्य रूप से व्यक्त हो जाता है और जो भावना और कल्पना के योग के कारण रचना एक साहित्य के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इन भेदों पर आलोचना के सिलसिले में हम विचार करेंगे।

रचनाविधान के उपर्युक्त सभी भेदों पर अलग-अलग विचार किया जायगा। किन्तु, उसके पहले रचना के कुछ सामान्य तत्त्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

विषय और शैली - -

रचना के दो पक्ष हैं—वस्तु-पक्ष और शैली-पक्ष। रचना का महत्त्व इन दोनों पक्षों के उत्कर्ष और परस्पर संतुलन के अनुपात में होता है। अतएव श्रेष्ठ रचना में न केवल महत्त्वपूर्ण विषय की आवश्यकता है, वरन् शैली की उपयुक्तता भी कम आवश्यक नहीं। जैसा विषय हो, वैसी शैली होनी चाहिये। विषय और रचनाविधान के अनुसार शैली में भी अन्तर हो जायगा। उदाहरण के लिये हास्यरस की वस्तु की अभिव्यक्ति का ढंग वीररस सम्बन्धी वस्तु की अभिव्यक्ति-प्रणाली से भिन्न होगा। कविता की शैली कहानी की शैली से भिन्न होगी।

रचना के उत्कर्ष के लिये विषय का उत्कर्ष बहुत पुराने जमाने से भारतवर्ष में मान्य रहा है। यहाँ के महाकाव्यों में सदैव उदात्त चरित्र के नायकों को, महदनुष्ठान से संबद्ध घटनाओं को तथा प्रकृति और सामाजिक जीवन की विराट् पीठिका को आवश्यक माना गया है। संस्कृत में रामायण और महाभारत

ही नहीं, उसके बाद, अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष तक की रचनाओं में विषय की उपेक्षा नहीं हुई है। हाँ, इधर पश्चिम के अभिव्यञ्जनावादी तथा कलावादी विचारकों के प्रभाव से साहित्य में विषय-वस्तु का स्थान अत्यन्त गौण माना जाने लगा था, तथा शैली की ही कला का चरम तत्त्व मान लिया गया था। पर वह प्रभाव देश और काल की दृष्टि से अत्यन्त सीमित रहा।

प्रत्येक विषय प्रत्येक रचनाविधान के लिये उपयुक्त नहीं होता। किसी घटनात्मक मामिक प्रसंग को लेकर कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की रचना हो सकती है। किसी मामिक भाव या रस की व्यञ्जना के लिये कविता उपयुक्त माध्यम होगी। किसी मनोवृत्ति के विश्लेषण या किसी समस्या के विवेचन के लिये निबन्ध अच्छा साधन होगा। किसी महान् घटना या आन्दोलन से सम्बद्ध दृश्यों को साकार करने के लिये रिपोर्टाज जैसे नूतन रचना-विधान की शरण लेनी होगी। किसी विशेष प्रसंग से अच्छी कहानी बन सकती है, निबन्ध के लिये वह उतना उपयुक्त नहीं भी हो सकता है। किसी दूररे प्रसंग पर निबन्ध ही लिखना ज्यादा अच्छा हो सकता है, कहानी के लिये उसमें पर्याप्त मसाला शायद नहीं मिले। फिर भी, कोई आत्यन्तिक या निरपेक्ष नियम इस सम्बन्ध में नहीं बनाये जा सकते।

रचनात्मक साहित्य में सदैव ध्यान रखना चाहिये कि विषय प्रधान या साध्य है, शैली गौण या साधन। विषय

की अभिव्यक्ति का ढंग ही तो शैली है। यह ढंग अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रखता। कोई विशेष शैली अन्य शैलियों से अच्छी या बुरी नहीं कही जा सकती है। शैली का उद्देश्य है विषय या वस्तु का सम्यक् अभिव्यञ्जन। जिस शैली से यह अभिव्यञ्जन सर्वाधिक, सुन्दर, सफल, शक्तिशाली, और प्रभावपूर्ण हो वही शैली उचित है। रचयिता को एक बात सदैव ध्यान में रखना चाहिये - शैली-सौन्दर्य के प्रदर्शन के मोड़ में पड़कर वह विषय या वस्तु की उपेक्षा न कर दे। क्योंकि रचना की सफलता अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने का दृष्टि से आँको जायगी और यह प्रभाव विषय पर ही प्रधानतया निर्भर है।



कविता के तत्त्व

काव्य और कविता — संस्कृत साहित्य में 'काव्य' शब्द का अर्थ आज की अपेक्षा अधिक व्यापक था, सम्पूर्ण ललित या रसात्मक साहित्य काव्य के अन्तर्गत माना जाता था। प्राचीन आचार्यों के अनुसार काव्य के दो भेद हैं—

१. दृश्य काव्य, जिसके उपविभाग रूपक और उपरूपक हैं।

२. श्रव्यकाव्य, जिसकी दो शाखाएँ हैं—

(क) गद्य काव्य,

(ख) पद्य काव्य।

आज 'कविता' से प्रायः हम वही अर्थ लेते हैं जो प्राचीन काल में 'पद्यकाव्य' से लिया जाता था। फिर भी 'काव्य' शब्द आज 'कविता' का पर्यायवाची सा बन गया है। हम 'कामायनी' को काव्यग्रन्थ कहते हैं, पर हिन्दी में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक को काव्यग्रन्थ कहने का साहस नहीं करते, यद्यपि अपने प्राचीन अर्थ में काव्य शब्द के अन्तर्गत नाटक, कथा साहित्य, निबन्ध आदि सभी साहित्यिक विधान आ जाते हैं।

प्रायः 'काव्य' और 'कविता' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में तो होता ही है, कभी-कभी दोनों में एक विभाजक रेखा भी खींची जाती है। तब 'काव्य' शब्द सामूहिक अर्थ में और

‘कविता’ शब्द विशिष्ट रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे— ‘हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण’ ; “परिवर्त्तन शीर्षक कविता में प्रकृति का रूप”, अथवा “प्रकृति संबन्धी कविताओं का संग्रह” ।

हिन्दी में ‘पद्यकाव्य’ शब्द का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि काव्य पद्यमय रचनाओं को ही मानते हैं। कहानी, नाटक उपन्यास, निबन्ध, संस्मरण आदि को काव्य की परिधि में अन्तर्भुक्त नहीं करते। आधुनिक काल में साहित्य के एक नवीन रूप ‘गद्यकाव्य’ का हिन्दी में आविर्भाव हुआ। इसमें काव्य की रसात्मकता, कल्पना एवं भावुकता तो रहती है, पर पद्यबद्ध नहीं। पद्य शैली के अभाव में इसे हिन्दी के विशुद्ध ‘काव्य’ साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना गया।

काव्य के उपादानों या कविता के विविध तत्त्वों में पद्यबद्धता एक अनिवार्य उपादान या तत्त्व है।

कविता के अनिवार्य तत्त्व —

रस, भाव या अनुभूति; भाषा और छन्द कविता के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके बिना कविता का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। आज कल कुछ कवि (?) प्रगतिशील बनने के आवेश में, मानव का काव्य-परंपरा से स्वतंत्र अपना कोई नया मार्ग निकालने की लालसा से प्रेरित हो कविता का सम्बन्ध भाव, रस या अनुभूति से अनिवार्य नहीं मानते। इनका कहना है कि इस बुद्धिवाद के युग में कविता भी बौद्धिक अभिव्यक्ति मात्र

है। यदि वह हृदय का स्पर्श किये बिना हमारी मात्र बुद्धि को झकझोर दे सके, तो वह अपने उद्देश्य में सफल है। इस विचार के व्यक्ति छन्द को भी विशेष आवश्यक नहीं मानते। यों, रबर-छन्द या ताल वृत्त भी एक छन्द है, उसमें भी लय-सौन्दर्य की रक्षा के लिये नादगति के नियन्त्रण की अपेक्षा रहती है। पर जब कविता रस या भाव तत्त्व (रागात्मिका वृत्ति) तथा छन्द के इस नियन्त्रण को भी छोड़ चलती है तो वह साहित्य का कोई नया और चाहे श्रेष्ठतर (?) रूप भले ही हो, पर परंपरा-सिद्ध अर्थ में वह 'कविता' नहीं हो सकती।

अनएव, भाववृत्ति और छन्द कविता के अनिवार्य तत्त्व हैं। भाषा तो कविता ही नहीं, साहित्य मात्र की अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम है।

भाव और रस —

प्रमुख प्राचीन आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। रस की अनुभूति का आनन्द अलौकिक और ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। रसानन्द इस लोक के नियमों से बद्ध नहीं। लोक में दुख की चीजों से दुख और सुख की चीजों से सुख होता है, पर काव्य में जो रसानुभूति है वह सुख और दुख दोनों प्रकार की चीजों से एक ही समान आनन्द प्रदान करने में समर्थ है। अतः वह अलौकिक है। इस दृष्टि से भाव और रस में भेद है। भाव लौकिक है, रस अलौकिक। हास्य और प्रेम भावों से सुख तथा शोक और क्रोध भावों से दुख होता है—

लोकमें ऐसा ही हम पाते हैं। पर काव्य के भीतर जब हास्य, प्रेम, शोक, क्रोध आदि भाव—हास्य, शृङ्गार, करुण और रौद्र—रस बन जाते हैं तो ये एक समान आनन्द के कारण होते हैं। सभी भाव रस नहीं बन सकते। लेकिन प्रत्येक रस के मूल में कोई-न-कोई भाव अवश्य रहता है। लौकिक भाव ही अलौकिक रस में बदल जाता है। कैसे, इसे देखें।

रस निष्पत्ति—

भरत मुनि ने कहा है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

(नाट्यशास्त्र । अ० ६)

आचार्य मम्मट ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि लोक-व्यवहार में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कार्य कहे जाते हैं वे नाटक काव्य आदि में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। तथा, स्थायी भाव (रति आदि) व्यक्त होकर रस (शृङ्गार आदि) कहा जाता है।

भाव दो प्रकार के हुए—स्थायी और व्यभिचारी (या संचारी) इन भावों के कारण-तत्त्व विभाव कहलाते हैं। विभावों के कारण भाव की उत्पत्ति होती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलंबन और उद्दीपन। आलंबन विभाव भाव का प्रधान कारण है, उद्दीपन विभाव गौण। शृङ्गार रस के प्रसंग में रति स्थायी भाव है; लज्जा, ईर्ष्या आशंका, आदि संचारी भाव;

नायिका (या नायक) आलंबन विभाव; चाँदनी रात, वसन्त, उद्यान, नायिका की मोहक चेष्टाएँ आदि उद्दीपन विभाव; तथा, आश्रम (जिस व्यक्ति के अन्दर रस उत्पन्न हो वह, जैसे, यहाँ पर नायक, आश्रय हैं) की चेष्टाएँ अनुभाव । वीर रस में शत्रु आलंबन, रणवाद्य आदि उद्दीपन, वीरव्यक्ति आश्रय, उसकी भुजाओं का फड़कना, आँखें लाल होना आदि अनुभाव, उत्साह स्थायी भाव तथा गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष, उग्रता, आदि संचारी या व्यभिचारी भाव हैं ।

स्थायी भाव—प्राचीन आचार्यों ने रस नौ माने हैं—इन नौ रसों के नौ स्थायी भाव निश्चित हैं । एक रस का स्थायी भाव दूसरे रस में स्थायी नहीं रह सकता संचारी के रूप में आ सकता है । नौ रस तथा उनके नियुक्त स्थायी भाव नीचे दिये जाते हैं—

रस	स्थायी भाव
शृंगार	रति (प्रेम)
वीर	उत्साह
शान्त	निर्वेद
करुण	शोक
हास्य	हास
रौद्र	क्रोध
भयानक	भय
अद्भुत	आश्चर्य
बीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)

संचारी भाव—संचारी भावों की संख्या ३३ है—

- | | |
|----------------------------------|----------------------------|
| १. निर्वेद, या वैराग्य | १४. चपलता |
| (दारिद्र्य, व्याधि, अपमान | १५. हर्ष |
| आदि से उत्पन्न निर्वेद संचारी | १६. आवेग |
| है । वैराग्य या तत्त्वज्ञान से | १७. जड़ता |
| उत्पन्न निर्वेद शांत रस का | १८. गर्व |
| स्थायी भाव है ।) | १९. विषाद |
| २. ग्लानि | २०. औत्सुक्य |
| ३. शंका | २१. निद्रा |
| ४. असूया (दूसरे के ऐश्वर्य, | २२. अपस्मार (मानसिक |
| सौभाग्य आदि को न देख | संताप से उत्पन्न शून्यता) |
| सकना ।) | २३. सुप्त (स्वप्न) |
| ५. मद | २४. विबोध |
| ६. श्रम | २५. अमर्ष |
| ७. आलस्य | २६. अवहित्था (लज्जा आदि |
| ८. दैन्य | से उत्पन्न हर्षादि को |
| ९. चिन्ता | छिपाने का भाव ।) |
| १०. मोह | २७. उग्रता |
| ११. स्मृति । | २८. मति |
| १२, धृति | २९. व्याधि |
| १३. ब्रोड़ा (स्त्रियों में पुंश | ३०. उन्माद |
| के देखने आदि से उत्पन्न | ३१. मरण |
| लज्जा का भाव ।) | ३२. त्रास |
| | ३३. वितर्क |

देव कवि ने छल की ३४ वाँ संचारी भाव माना है। यों, मात्मर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा और माधुर्य आदि भी संचारी के रूप में आते हैं।

अनुभाव—अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है, भाव के पीछे होने वाला। भाव की शारीरिक प्रतिक्रिया ही अनुभाव है। इन शारीरिक प्रतिक्रियाओं से भाव का पता चलता है, अतः अनुभाव को भावबोधक कहा गया है। अनुभाव तीन प्रकार के हैं—कायिक, मानसिक, सात्त्विक। अंतिम का काव्य में विशेष महत्त्व है। सत्त्व से उत्पन्न अनुभाव सात्त्विक कहलाते हैं—ये आठ प्रकार के हैं—

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेगधु (कंठ) वैचर्य, अश्रु और प्रलप (मूर्च्छा)।

आश्रय, आलंबन और उद्दीपन—जिसके अन्दर भाव उत्पन्न हो वह आश्रय और जिसके कारण भाव उत्पन्न हो वह आलंबन विभाव कहलाता है। सहकारी कारण उद्दीपन विभाव है। आलंबन की चेष्टाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत हैं, आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव के।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य—

रस व्यंग्य है। शब्द द्वारा रस के कथन से रसानुभूति नहीं होती। रसास्वादन रस के ऊपर लिखे तत्त्वों के योग से अपने आप हो जाता है। और इस योग का क्रम लक्षित नहीं होता। रसात्मक काव्य पढ़ते ही रस की अनुभूति होती है—कैसे हुई, यह

पता नहीं चलता । अतः रस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है । असंलक्ष्य-
क्रमव्यंग्य के आठ भेद हैं—

रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय,
भावसंधि और भावशबलता ।

रस काव्य का अलौकिक आस्वादनीय चरम पदार्थ है ।
भाव लौकिक है, पर अलौकिकता रस का आधार है । जब
अलौकिकता तो हो, पर औचित्य नहीं तो रसाभास होता है ।
अलौकिकता और औचित्य के अभाव में रागवृत्ति भावाभास
कहलाती है । एक भाव के शमन का वर्णन भावशांति है, उदय
का वर्णन भावोदय है, दो भावों का योग भावसंधि है, और
अनेक भावों में से एक के बंद एक का उदय और शांति
भावशबलता है ।

रसास्वादन कैसे होता है ?

भरतमुनि ने कहा—

“विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।”

इसी सूत्र के आधार पर विभिन्न आचार्यों ने रसनिष्पत्ति
की प्रक्रिया या रसास्वादन की प्रणाली की व्याख्या की है ।

प्रश्न यह है कि नाटक या काव्य में रस के आलंबन और
आश्रय शकुन्तला-दुष्यन्त प्रभृति पात्र होते हैं । शकुन्तला को
देखकर दुष्यन्त के मन में प्रेम उत्पन्न हुआ तो शृंगार रस के
स्थायी भाव रति का आलंबन शकुन्तला और आश्रय दुष्यन्त
हुए । आश्रय के हृदय में रति का संचार होता है, अतएव उस

रति-भाव का आस्वादन आश्रय (दुष्यन्त) को करना चाहिये । पर हम देखने हैं कि नाट्यशाला में बैठकर नाटक देखनेवाले दर्शक या काव्य के पाठक (सामाजिक) भी रति-भाव तथा शृंगार रस का आस्वादन करते हैं । यह कैसे ?

इस प्रश्न का उत्तर ऊपर उद्धृत भरतमुनि के सूत्र से ही विभिन्न आचार्यों ने खोजने का प्रयास किया है ।

मीमांसक भट्ट लोल्लट का कहना है कि हम (दर्शक या पाठक सामाजिक) शकुन्तला-दुष्यन्त का अभिनय करनेवाले नाट्यपात्रों में वास्तविक शकुन्तला-दुष्यन्त का आरोप पर लेते हैं । इसीसे रसानुभाव सामाजिकों को भी होने लगता है । इस सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद कहते हैं ।

नैयायिक श्री शंकु इस मत का खंडन करते हैं । उनका कहना है कि जिनमें रति आदि मनोविकार होंगे, वे ही उनका आस्वादन करेंगे । शकुन्तला दुष्यन्त के रति आदि मनोविकारों का आस्वादन सामाजिकों को कैसे होगा ? केवल नाट्यपात्रों में शकुन्तला आदि के आरोप मात्र से रसास्वादन सामाजिकों को नहीं हो सकता । आरोप में भिन्नता का ज्ञान रहता है । श्री शंकु का कहना है कि वस्तुतः सामाजिक शकुन्तलादि चरित्रों का नाट्यपात्रों में आरोप नहीं करते, अनुमान करते हैं । इस अनुमान में अभिन्नता का भाव रहता है । इस सिद्धांत को अनुमितिवाद कहते हैं ।

भट्ट नायक ने इसका भी खंडन किया। उनका विचार है कि 'एक व्यक्ति में उद्भूत रस का अन्य व्यक्ति अनुमान से आस्वादन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान से ही आस्वादन हो सकता है।' वास्तव में जो रसास्वादन सामाजिक करते हैं, वह भोगात्मक होता है। कैसे ?

शब्द के तीन व्यापार हैं —

- (१) अभिधा, जिसके सहारे हम अर्थ ग्रहण करते हैं।
- (२) भावना, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति में उत्पन्न रति आदि भाव उस व्यक्ति से वैयक्तिक सम्बन्ध छोड़ कर सामान्य रूप में सबके आस्वादनीय बन जाते हैं। इस क्रिया को साधारणीकरण कहते हैं।
- (३) भोग, जिसके द्वारा इस साधारणीकृत रति आदि भाव का वास्तविक आस्वादन सामाजिकों को होता है।

काव्यनाटकों को सुनने या देखने पर पहले अभिधा द्वारा अर्थ-बोध, फिर साधारणीकरण द्वारा रति आदि भावों का वैयक्तिक सम्बन्ध-त्याग और सामान्य अनुभूति के रूप में प्रतीति और फिर सामाजिकों द्वारा इस सामान्य, साधारणीकृत रति आदि का वास्तविक भोग होता है।

इस सिद्धान्त को भुक्तिवाद कहा गया है।

अभिनव गुप्त-चार्य और आचार्य मम्मट ने इस भुक्तिवाद के सिद्धान्त का भी खण्डन किया है इनका कहना है कि स्थायी

भाव और विभावादि में व्यंग्य-व्यञ्जक संबन्ध है। स्थायी भाव शकुन्तला-दुष्यन्त आदि चरित्रों में ही नहीं, स्वयं सामाजिकों (या दर्शकों) में भी वासना-रूप में वर्तमान रहते हैं। विभाव (आलंबन-उद्दीपन) आदि कारणों से—शकुन्तला-दुष्यन्त और उनकी चेष्टाओं के सहारे—यही बीज-रूप भाव सामाजिकों के हृदय में व्यञ्जना-वृत्ति के अलौकिक विभावन-व्यापार द्वारा जा-त हो जाता है। इसे ही रसास्वादन कहते हैं। इस सिद्धान्त को अभिव्यक्तिवाद का नाम दिया गया है।

साधारणीकरण और 'मधुपतो भूमिका'—

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रस या भाव की अनुभूति सामाजिकों को तभी होती है जब साधारणीकरण सम्पन्न हो जाता है। साधारणीकरण क्या है, और किसका होता है ?

साधारणीकरण का अर्थ है रति आदि भावों का शकुन्तला आदि चरित्रों से वैयक्तिक सम्बन्ध छोड़ देना और सबके लिये आस्वादनीय हो जाना। जब तक दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति प्रेम वैयक्तिक भाव के रूप में रहेगा तब तक उसका आस्वादन सामाजिकों के लिये न तो सम्भव ही है, और न नैतिक दृष्टि से उच्युक्त है। पर जब यह भाव सर्वसामान्य द्वारा आस्वादनीय बन जाता है तो इसका आस्वादन सामाजिक करने लगते हैं। यह चमत्कार व्यञ्जना के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा घटित होता है।

साधारणीकरण विभाव का होता है या भाव का, इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने भ्रम फैला रक्खा है। वस्तुतः साधारणीकरण होता है भाव का, लेकिन वह विभावादि (आलंबन और उद्दीपन) द्वारा घटित होता है। विभावादि साधारणीकरण के कारण हैं, भाव वह तत्त्व जिसका साधारणीकरण होता है। आलंबन-उद्दीपन द्वारा व्यञ्जनावृत्ति के सहारे भाव का यह साधारणीकरण होता है।

मधुमती भूमिका किसे कहते हैं ? बात यह है कि रस का आस्वादन एक विशेष मनोदशा को अपेक्षा रखता है। इसे मधुमती भूमिका कहते हैं।

“मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क हैं।...इस पार्थक्यानुभव को ‘अपर प्रत्यक्ष’ भी कहते हैं। “चित्त की जिस अवस्था में संबन्ध और संबन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे ‘पर प्रत्यक्ष’ या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं।” * जब हम कहते हैं कि ‘राम दशरथ के पुत्र हैं’, तो इसमें पुत्र, पितापुत्र सम्बन्ध और संबन्धी पिता—तीनों की प्रतीति हमारे मन में सजग रहती है। मधुमती भूमिका में सम्बन्ध और संबन्धी विलीन हो जाते हैं केवल पुत्र की ही चेतना रहती है और तब यह पुत्र दशरथ का बौयक्तिक सम्बन्ध छोड़कर प्रत्येक

सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन बन जाता है। और फिर रसानुभूति होती है। यह वैयक्तिक सम्बन्ध कैसे छूट जाता है ? बात यह है कि जब हमारे मन में रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव हो जाता है और केवल सत्वगुण ही आविर्भूत अवस्था में रहता है तो हमारे अहं की सीमाएँ टूट जाती हैं और हम शेष सृष्टि से अपने नित्य रागात्मक अभेद की अनुभूति करने लगते हैं। इसी अनुभूति के कारण रसानुभव सम्भव होता है।

इस प्रकार मधुमती भूमिका रसबोध के पूर्व की अनिवार्य अवस्था है—वह मानसिक पूर्वपीठिका है जिसमें हमें मधुमान रस का आस्वादन होता है।

कल्पना—कल्पना बोधवृत्ति है, जिसका काम है संश्लेषण, मूर्तिविधान। कवि भाव या रस के संचार के लिये कल्पना का अनिवार्य रूप से सहारा लेता है। रसबोध की प्रक्रिया में यह सहारा कई प्रकार से लिया जाता है। प्रथम तो कवि स्वयं इसका सहारा लेता है, जब वह कवि-कर्म में लीन होता है। क्योंकि उसका वर्य विषय प्रत्यक्ष रूप से उसकी आँखों के सामने कविता लिखते समय वर्तमान नहीं भी हो सकता है और वह कल्पना के सहारे ही उस विषय का साक्षात् करता है। दूसरे, यथार्थ जगत् के उपादानों को कवि जैसा देखता है वैसा ही नहीं लिखता, वरन् अपनी कल्पना द्वारा वह उसे एक नूतन रूप प्रदान करता है। कल्पना की विधायिका शक्ति के कारण कलासृष्टि एक नूतन सृष्टि बन जाती है।

पाठकों को भी रसास्वादन में कल्पना की सहायता अपेक्षित होती है। आलम्बन उद्दीपन विभावों को पाठकों के सामने साकार करना कल्पना का ही काम है। कमरे में बैठ कविता पढ़नेवाले पाठक की मानसिक आँखें सुदूर समुद्र का लहराना सौंदर्य या हिमालय पर चाँदनी का मनोरम दृश्य कल्पना के ही सहारे देखती हैं। कल्पना एक बार कवि के अन्दर जिस दृश्यादि का निर्माण कर चुकी होती है, शब्दों के माध्यम से लगभग उसी दृश्य का पुनर्निर्माण वह पाठक के लिये करती है। आलम्बन-उद्दीपन साकार हो जाते हैं और तब रसानुभूति संभव होती है।

पर, यह रसानुभूति तभी सम्भव है जब कवि की कल्पना भाव-प्रेरित होता है। किसी भाव से जब कवि-कल्पना स्फुरित या प्रेरित होगी तभी वह पाठक के अन्दर उभी भाव की आवृत्ति में समर्थ होगी। अगर कल्पना के मूल में भाव नहीं, तो भाव उतका परिणाम भी नहीं हो सकता। अतः कोरी कल्पना का खिलवाड़ कविता में अपेक्षित नहीं। क्योंकि कल्पना साधन है, साध्य है भावोद्देक।

कविता और बुद्धि तत्त्व —

कहा गया है कि कविता में मानव-मन के रागधत्त की प्रधानता हुआ करती है। भाव या रस की अनुभूति कराना ही उसका लक्ष्य है। कविता का भावजगत् यथार्थ जगत् की अनुकृति नहीं, वरन् एक स्वतंत्र और भिन्न सृष्टि होती है जो कवि की कल्पना और भावना के योग से निर्मित होती है। पर,

इसका अर्थ यह नहीं कि कवि में बुद्धि की नितान्त अनावश्यकता है या कविता लिखने की प्रक्रिया में कवि अथवा रसास्वादन की प्रक्रिया में पाठक बुद्धि को ताक पर धर देता है—कोरी भावुकता के सहारे काम करता है। भावों के प्रतिनिधि उपयुक्त शब्दों की सम्यक् योजना, छन्द-व्यवस्था और काव्य के विभिन्न अवयवों में सौषम्य या संतुलन की रक्षा के लिये बुद्धि की जितनी आवश्यकता कवि को है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापित कर सम्यक् अर्थबोध के लिये उससे कम आवश्यकता पाठक को नहीं।

पर आजकल पाश्चात्य प्रभाव से कविता में बुद्धि-तत्त्व को प्राधान्य दिया जा रहा है, उसे साधन नहीं, साध्य बनाया जा रहा है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि बुद्धितत्त्व साधन है, साध्य है रसानुभूति।

कविता में छन्द-विधान —

रस की ही तरह छन्द भी कविता का अनिवार्य तत्त्व है। रस तो साहित्यमात्र की आत्मा ही है। लेकिन छन्द वह विशिष्ट स्वरूप-विधान सम्बन्धी तत्त्व है जिसके अभाव में साहित्य की कोई भी रचना कविता नहीं कही जा सकती, चाहे वह और कुछ भी हो। छन्द के प्रभाव से कविता में लयात्मकता का संचार होता है, कविता संगीत का सहारा पाकर अत्यन्त प्रभावशालिनी हो जाती है। संगीत के योग के कारण

ही कविता में रस की संवेदनीयता या भाव-प्रभाव की जितनी शक्ति रहती है उतनी साहित्य के अन्य किसी रूप में नहीं।

छंद मात्राओं, वर्णों आदि की निश्चित योजना है जिसके कारण पंक्तियां का लय निर्दिष्ट होता है। हिन्दी कविता में तीन प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है—

(१) संस्कृत के वर्णवृत्तों का, जिनमें मात्राओं और वर्णों की निश्चित संख्या प्रत्येक चरण में होती है तथा गणों का विचार होता है। जैसे द्रुतविलंबित, शार्दूलविक्रीडित, वसंत-तिलका, वंशस्थ, मन्द्राकान्ता, आदि।

(२) मात्रिक छंदों का, जिनमें मात्राओं की ही गिनती होती है, वर्णों का नहीं। हिन्दी के अपने छन्द हैं। उदाहरण—
दोहा, चौपाई, रोला, गीतिका, छप्पय, कुण्डलिया, आदि।

(३) तालवृत्त या स्वच्छंद छंद का, जिसमें वर्णों-मात्राओं की निर्दिष्ट संख्या की अपेक्षा नादसौंदर्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। छायावाद युग के कुछ कवियों ने इस प्रकार के छन्दों का सफल प्रयोग किया है। निराला की कविता 'जुही की कली' इसका अच्छा उदाहरण है। ऐसे छन्दों में ताल-मात्राओं की निश्चित योजना होती है।

सफल और श्रेष्ठ कवि सहज ही छन्द-योजना में समर्थ होते हैं। वे प्रत्येक पंक्ति के साथ ठक-ठक कर मात्राएँ गिनते नहीं चलते। लय ठीक हुआ, तो मात्राएँ अपने आप ठीक हो जायँगी। इसलिये छन्द-योजना की सफलता के लिये लय का

ध्यान रखना होता है। लय में कहीं भी गड़बड़ी होते ही मात्राओं की अव्यवस्था सूचित हो जाती है।

यद्यपि रस और छन्द में प्रधान रस है, तथापि छन्द की सुव्यवस्था के प्रति कवि को सजग रहना चाहिये, क्योंकि रसानुभूति के हित में ही छन्द-प्रवाह में निर्बाध संगीतात्मक गति अपेक्षित है

कविता और अलंकार—

अलंकार कविता का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। बिना अलंकार के भी कविता हो सकती है। सफल काव्य में संगीतात्मक लय से समन्वित छन्द-योजना के साथ रसात्मक व्यञ्जना की शक्ति अनिवार्य है। रसपूर्ण काव्य अलंकार-विहीन होकर भी सफल है। अलंकार से कविता की सुन्दरता बढ़ती है, उत्पन्न नहीं होती। असुन्दर अर्थ को अलंकार अलंकृत नहीं कर सकते।

अलंकार वाणी का कौशल-विशेष है जिससे चमत्कार की उत्पत्ति होती है। अलंकार-मूलक यह चमत्कार जहाँ अपने आप में उद्देश्य और रस से विच्छिन्न हो जाता है वहाँ वह मात्र खिलवाड़ रह जाता है। जहाँ अलंकार रस की सहायता करता है वहीं वह सोद्देश्य और उचित है। रस (साध्य) के उत्कर्ष के साधन रूप में ही अलंकार अपेक्षित है।

❀ विविध छन्दों के लक्षण-उदाहरण के अध्ययन के लिये देखिये—
छन्दप्रभाकर—बगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ।

अलंकार तीन प्रकार के माने गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार ।

शब्दालंकार में चमत्कार शब्द-विशेष पर आश्रित रहता है । पर्यायवाची शब्द के बदल देने से अलंकारत्व मिट जाता है ।

अर्थालंकार में अलंकार शब्द के भीतर निवास करनेवाले अर्थ पर आश्रित रहता है, शब्द के बाहरी आकार पर नहीं । अतः पर्यायवाची शब्द बदल देने से भी अलंकार का चमत्कार ज्यों का त्यों रहता है ।

अनुप्रास, यमक, शब्दश्लेष, वक्रोक्ति आदि शब्दालंकार के तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, असंगति, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालंकार के उदाहरण हैं । जब शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों किसी एक ही रचना में विद्यमान हो तो उसे उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है । उदाहरण हैं—संकर और संसृष्टि ।

शब्दालंकार तीन प्रकार के माने जा सकते हैं—

- (१) आवृत्तिमूलक, जिनमें वर्णों या पदों की आवृत्ति पर चमत्कार आश्रित होता है, जैसे अनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास, वीप्सा आदि ।
- (२) श्लेषमूलक, जिनमें श्लिष्ट शब्द पर चमत्कार आश्रित होता है, जैसे शब्दश्लेष, वक्रोक्ति, आदि ।
- (३) चित्रमूलक, जिनमें वर्णों या शब्दों की आकार-सम्बन्धी

विचित्रता से चमत्कार उत्पन्न हो, जैसे भाषासंकर,
कमलबन्ध, प्रहेलिका, दृष्टिकूट, आदि ।

अर्थालंकार के पाँच भेद माने जा सकते हैं—

- (१) साध्यमूलक, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेह, अप-
हृति, आदि ।
- (२) विरोधमूलक, जैसे विरोध, विरोधाभास, विभावना,
विशेषोक्ति, असंगति, आदि ।
- (३) न्यायमूलक, जैसे काव्यलिंग, प्रतीप, तद्गुण, परिसंख्या,
आदि ।
- (४) शृङ्खलाबन्धमूलक, जैसे एकावली, सार, कारणमाला,
आदि ।
- (५) गूढार्थप्रतीतिमूलक, जैसे वकोक्ति, व्याजोक्ति, आदि ।

भाषा और शैली—

कविता की भाषा गद्य की भाषा से कुछ भिन्न होती है ।
कविता का साध्य रस है । रस व्यंग्य है, वाच्य नहीं । अतएव
कविता की भाषा में व्यञ्जकता की बहुत अधिक आवश्यकता
रहती है । शब्द का प्रयोग मात्र अर्थ-द्योतन के लिये नहीं होता,
वरन् भावप्रेषणीयता के लिये होता है । कवि भाषा द्वारा पाठक को
एक विशेष भावोन्मेष में लीन करने का प्रयत्न करता है अथवा
एक विशेष रसात्मक प्रभाव डालने की चेष्टा करता है । अतएव

॥ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण आदि के लिये देखिये—

(१) अलंकार मुक्तावली—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, एम० ए०

(२) काव्य-कल्पद्रुम (अलंकार मंजरी)—श्री कन्हैया लाल पोद्दार ।

कविता की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा की अपेक्षा अधिक व्यञ्जक, संप्राण और रसात्मक प्रभाव-प्रेषण में समर्थ होती है। इसके अतिरिक्त उसमें विषयोचित विशेषताएँ भी हुआ करती हैं। वीर रस और शृंगार रस के प्रसंगों में भाषा एक प्रकार की नहीं रहती। शब्दचयन, वाक्यविन्यास, आदि में अन्तर आ जाता है। इस दृष्टि से भाषा के तीन गुण माने गये हैं—ओजगुण, माधुर्यगुण और प्रसाद गुण। वीर या रौद्र रस के उपयुक्त भाषा ओजगुण से समन्वित रहती है। शृंगार आदि रसों में भाषा में माधुर्यगुण का समावेश अपेक्षित होता है और वर्णनात्मक या घटनात्मक प्रसंगों में प्रसाद गुण की अपेक्षा होती है।

साहित्य के और अंगों की अपेक्षा कविता की भाषा में कवि के व्यक्तित्व की छाप अधिक स्पष्ट होती है। इसलिये एक कवि की भाषा और दूसरे कवि की भाषा में अन्तर स्पष्ट होता है। प्रसाद की भाषा पंथ की भाषा से इस अर्थ में भिन्न होगी, यद्यपि दोनों एक ही हिन्दी भाषा के रूप हैं और दोनों में युगसापेक्ष समानताएँ भी कम नहीं। इस वैयक्तिक विशेषता को हम विशिष्ट कवियों की शैली का नाम देते हैं।

शैली अभिव्यक्ति की प्रणाली का नाम है। भाषा का विशिष्ट प्रकार से प्रयोग ही शैली है। कुछ लोगों का विचार है कि शैली नितान्त वैयक्तिक वस्तु है। कवि के व्यक्तित्व से उसे अलग कर सकना सम्भव नहीं। प्रत्येक कवि की भाषा

की निजी विशेषताएँ होती हैं जो उसके व्यक्तित्व की देन हैं और इन विशेषताओं के दर्शन उस कवि की समस्त रचनाओं में मिलेंगे, चाहे उसकी रचना किसी विषय पर हो। भाषा में व्यक्तित्व की छाप जितनी गहरी होगी, शैली उतनी ही अच्छी समझी जायगी। पर दूसरे विद्वानों का मत है कि शैली का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व से नहीं, वरन् वर्य-विषय से होना चाहिये। अच्छी शैली विषय के अनुरूप हुआ करती है। विषय के साथ शैली बदलती है। एक ही कवि विभिन्न विषयों पर लिखते समय विभिन्न शैलियों का प्रभ्रय लेगा। पर भिन्न-भिन्न कवि एक ही विषय पर लिखेंगे तो उनकी शैलियों में समानता होगी।

वस्तुतः सच्चाई अंशतः दोनों विचारों में है। व्यक्तित्व को रचनात्मक साहित्य में रचना से अलग नहीं रखा जा सकता। अतः व्यक्तिगत विशेषताएँ शैली में भी दृष्टिगत होंगी ही। और, विषय की अनुरूपता भी शैली में अपेक्षित है। परस्पर विरोधी विषयों को अभिव्यक्ति एक ही शैली में प्रभावशाली नहीं होगी।

कविता के स्वरूप-विधान

कविता के रचनाविधान और स्वरूप-योजना की दृष्टि से दो भेद किये जा सकते हैं—

१. प्रबन्ध काव्य, २. मुक्तक ।

प्रबन्धकाव्य के पुनः दो प्रकार हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य । मुक्तक रचना अनेक प्रकार की हो सकती है—गीति काव्य (Lyric), वीरगीत (Ballad), चतुर्दशपदी (Sonnet), स्फुट पद आदि । हम इनकी विशेषताओं पर क्रमशः विचार करें ।

प्रबन्ध काव्य—

प्रबन्धकाव्य में तीन तत्त्व होते हैं—वस्तुविधान, चरित्र-चित्रण और भाव-(या रस) व्यञ्जना । वस्तुविधान के तीन अवयव हैं—घटनाविकास, दृश्ययोजना, परिस्थितनिर्माण ।

प्रबन्धकाव्य में घटनाओं की एक अनिवार्य शृंखला होती है । पूर्ववर्ती घटनाएँ उत्तरवर्ती घटनाओं के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध में आबद्ध होती हैं । घटनाओं का एक अन्तिम लक्ष्य या गन्तव्य होता है और इसी दिशा में घटनाओं का विकास होता है । जो घटनाएँ इस लक्ष्य को संभव बनाने में

सहायक नहीं बनती, वे निरुद्देश्य घटनाएँ व्यर्थ भार बन जाती हैं—उन्हें कथावस्तु से बाहर निकाल देना चाहिये। केवल साभिप्राय और सोद्देश्य घटनाएँ ही प्रबन्धकाव्य के घटनाविकास का अंग हो सकती हैं। अतः कवि को घटनाओं की अपार भीड़ में से अंतिम लक्ष्य के आलोक में कुछ विशिष्ट घटनाओं या व्यापारों को छाँट लेना पड़ता है। घटनाचयन या व्यापारशोधन की शक्ति कवि के उत्कर्ष की मापिका है।

दृश्ययोजना प्रबन्धकाव्य के वस्तुविधान का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। साभिप्राय और विषयानुकूल दृश्यों की पीठिका में चरित्रों और घटनाओं का सम्यक् उद्घाटन अधिक प्रभावशाली होता है। ये दृश्य प्रकृति से लिये जा सकते हैं अथवा मानव-जीवन से। इन दृश्यों का उपयोग कई दृष्टियों से होता है। कहीं-कहीं दृश्यविधान घटनावर्णन, चरित्रचित्रण या भावव्यञ्जना की पीठिका के रूप में आता है ; कहीं-कहीं भाव या रस के अंग—आलम्बन, उद्घोषन, अनुभाव आदि—के रूप में। इन दृश्यों के रूप में प्रकृतिचित्रण का कविता में विशेष महत्त्व है, इसलिये उसका अलग से विवेचन किया जा रहा है।

कविता में प्रकृति-चित्रण के प्रकार—

प्रकृति का अनन्त विस्तार अनादिकाल से कवियों, सहृदयों और चिन्तकों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। उषा

के महत् सौन्दर्य को देखकर वैदिक ऋषियों का हृदय भी गा उठा था—

एषा स्या नव्यमायुर्दशाना गूढ्वीतमो ज्योतिषोषा अबोधि ।

अग्न एति युवतिरहयाणा प्राचिकित् सूर्य यज्ञमग्निम् ॥१॥

अर्थात्, “यह वही उषा है जो नवयौवन धारण करके अपने प्रभाव के द्वारा निगूढ़ अन्धकार को विनष्ट करके (प्राणियों को) जगाती हैं । लज्जाहीना युवती की तरह उषा सूर्य के सन्मुख आती और सूर्य, यज्ञ तथा अग्नि को सावधान करती हैं ।” †

आदि कवि वाल्मीकि की रामायण का प्रायः समस्त कथाविस्तार प्रकृति की विशद पीठिका में होता है । कालिदास ने प्राकृतिक सौन्दर्य को जो रागात्मक रूप प्रदान किया है, वह प्रसिद्ध ही है । हाँ, परवर्ती कवियों में प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण धीरे-धीरे बदलता गया और प्रकृति का वह रम्य रूप बहुत दिनों तक देखने में नहीं आया ।

आज कविता में प्रकृति का बहुविधि उपयोग होता है । कविता में प्रकृतिचित्रण के विविध प्रकार संक्षेप में इस प्रकार हैं—
(१) यथातथ्य प्रकृतिचित्रण, जब प्रकृति का तटस्थ रूप से यथार्थ चित्र मात्र उपस्थित करने का प्रयास कवि करता है ।

● ऋग्वेद ७-८०-२

† वैदिक साहित्य (टीका—लेखक, रामगोविन्द त्रिवेदी) से ।

(२) प्रकृति में मानव-भावनाओं का आरोप, जब प्रकृति के जड़ उपादानों के ऊपर चेतन मानव-भावनाओं का आरोप किया जाता है ।

(३) प्रकृति में भावनात्म भूल (pathetic fallacy) जब मानव के भावावेश के कारण उसे प्रकृति में भी तदनुसार भावावेश दिखाई पड़ता है ; या, जब प्रकृति मानव के सुख में सुखी और मानव के दुख में दुखी दिखाई पड़ती है । इसके दो भेद हैं—

(i) अनुकूल—जब मानव के सुख में प्रकृति सुखी और दुख में दुखी दिखाई दे ।

(ii) प्रतिकूल—जब मानव के सुख में प्रकृति दुखी और दुख में प्रकृति सुखी दिखाई दे ।

(४) प्रकृति का मानवीकरण, जहाँ प्रकृति के किसी विशेष उपादान को—रजनी, ज्योत्स्ना, उषा आदि को—मानव का आकार प्रदान किया जाता है ।

(५) अलंकारों के लिये प्रकृति का उपयोग, जहाँ प्रकृति के उपादान अप्रस्तुत रूप में या उपमान रूप में नियोजित होता है । प्रायः प्रत्येक कवि इसका उपयोग करते हैं ।

(६) उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण, जहाँ प्रकृति द्वारा उपदेश देना कवि का अभीष्ट होता है या जहाँ प्रकृति-वर्णन इस प्रकार का होता है कि उससे पाठकों को कुछ शिक्षा भी मिलती है ।

(७) किसी घटना, चरित्र या भाव की पूर्वपीठिका के रूप में

प्रकृति का वर्णन जिससे उपयुक्त वातावरण तैयार करने का प्रयास कवि करता है ।

- (८) उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण, जहाँ रसव्यञ्जना के साधन-रूप में प्रकृति का उपयोग होता है । षड्भूत वर्णन की प्राचीन परंपरा इसी भेद के अन्तर्गत है ।
- (९) आलंबन के रूप में प्रकृति-चित्रण, जहाँ प्रकृति स्वयं कवि या किसी चरित्र के भावों का आलंबन बन जाती है ।
- (१०) सर्ववादात्मक प्रकृति-चित्रण, जहाँ प्रकृति के नाना रूपों के भीतर कोई अरूप चेतन सत्ता के दर्शन कवि को होते हैं । कवि जड़, चेतन दोनों को यहाँ एक ही विराट् चेतन से उत्पन्न सहोदर मानता है । हिन्दी के छायावादी कवियों का प्रकृतिचित्रण इसका उदाहरण है ।
- (११) प्रतीकात्मक प्रकृति-चित्रण, जहाँ प्रकृति के विभिन्न रूपों को अप्रस्तुत मानकर उनका वर्णन किया जाता है और उससे मानव-हृदय की प्रस्तुत भावनाओं की व्यञ्जना होती है । प्रकृति के उपादान विशिष्ट अर्थों में रूढ़ होकर प्रतीक बन जाते हैं । रहस्यवाद और छायावाद की रचनाओं में इस कोटि का प्रकृति-वर्णन पाया जाता है ।

मार्मिक परिस्थितियों की योजना --

प्रबन्धकाव्य के भीतर मार्मिक परिस्थितियों की योजना का

बहुत अधिक महत्त्व है। वस्तुतः दृश्यविधान और घटनाविकास का उपयोग मार्मिक परिस्थितियों के निर्माण के लिये ही होता है। जब ऐसी परिस्थितियाँ सामने आ जाती हैं और उनकी सम्यक् योजना हो जाती है तो दृश्यवर्णन और घटना-विकास की गति रुक जाती है। और तब, रस-प्रवाह में कवि पाठकों को बहा ले जाता है। परिस्थितियाँ स्वयं अपने आपमें लक्ष्य नहीं। वे साधन हैं कविता के चरम साध्य रस के। मार्मिक परिस्थितियों की सफल योजना रसव्यञ्जना के लिये अनिवार्य तो नहीं लेकिन बहुत अधिक सहायक है। अतएव प्रबन्धकाव्य में रसव्यञ्जना अधिक सुगम और प्रभावपूर्ण हो सकती है।

चरित्र-चित्रण—

प्रबन्धकाव्य में चरित्र-चित्रण का भी स्थान है। घटनाओं और चरित्रों में परस्पर घनिष्ठ संबंध होना चाहिये। घटनाओं की शृंखला चरित्रों की स्वभावगत और परिस्थितिगत विशेषताओं से ही निःसृत होती है और घटनाओं की गतिविधि चरित्रों एवं परिस्थितियों के परस्पर घात-प्रतिघात के प्रतिफलनस्वरूप निर्धारित होती है।

चरित्रचित्रण का पूर्ण अवकाश प्रबन्धकाव्य में कवि को मिलता है। इसलिये रस-परिपाक के लिये सभी अवयवों—जैसे आलंबन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव आदि—की योजना प्रबन्धकाव्य में सहज ही हो जाती है।

यों तो मुक्तक कविता में भी रसपरिपाक के लिये चरित्रों

का आक्षेप आवश्यक होता है। लेकिन वहाँ चरित्र का रूप रेखा अपेक्षाकृत कम स्पष्ट अथवा व्यक्त हो पाती है। मुक्तक काव्य की सीमा के अन्दर चरित्र का पूर्ण विकास थोड़ा कठिन है, क्योंकि चरित्रचित्रण और शीलनिरूपण के लिये परिस्थितियों की अनेकता और घटनाओं की विविधता अपेक्षित है जो प्रबन्धकाव्य में अपेक्षाकृत अधिक सुलभ है।

इन कारणों से पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् ने प्रबन्ध-काव्य को मुक्तक से श्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार प्रबन्ध काव्य में ही कवि की प्रतिभा के पूर्ण विकास एवं क्रियाशीलता का अवसर मिलता है।

प्रबन्ध काव्य के दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। हम इनपर संक्षेप में विचार करें।

महाकाव्य—प्रबन्धकाव्य के समस्त तत्त्व—घटना, दृश्य, परिस्थिति, चरित्र और भाव—महाकाव्य तथा खण्डकाव्य दोनों में होते हैं। पर इन तत्त्वों की योजना के सिलसिले में दोनों में अन्तर है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार महाकाव्य में ये विशेषताएँ होती हैं—

(१) महाकाव्य सर्गों में निबद्ध होता है।

(२) उसका नायक कोई देवता या धीरोदात्त चरित्र होता है।

एक वंश के अनेक राजे भी नायक हो सकते हैं।

- (३) शृंगार, वीर और शान्त में से एक रस की प्रधानता होती है ।
- (४) नाटक की सभी संधियाँ उसमें होती हैं ।
- (५) उसका वृत्त इतिहाससम्मत होता है । अनैतिहासिक वृत्त भी हो तो किसी सज्जन के आश्रित हो ।
- (६) उसका कलात्मक उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष की उपलब्धि का प्रयास चित्रित करना होता है ।
- (७) आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वर्णनीय वस्तु का संकेत होता है । खलों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति भी हो सकती है ।
- (८) सर्ग की रचना एक ही प्रकार के वृत्त या छन्द में होती है । सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन होता है ।
- (९) सर्गों की संख्या आठ से अधिक हो ।
- (१०) संख्या, सूर्य, चन्द्र, शिकार, नदी, पर्वत, ऋतु आदि प्राकृतिक दृश्यों तथा संयोग, वियोग, युद्ध, विवाह आदि मानव-परिस्थितियों का वर्णन उसमें हुआ हो ।
- (११) उसका नामकरण कवि, कथानक अथवा नायक के अनुसार हो । सर्गों के नाम भी दिये जा सकते हैं ।

महाकाव्य के ये लक्षण रूढ़ और परंपरागत रूप से मान्य रहे हैं । पर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ और लक्षण बताये हैं । उनके अनुसार महाकाव्य में तीन बातें अपेक्षित हैं—

(१) महदनुष्ठान की योजना,

(२) महच्चरित्र का चित्रण,

(३) परम्परागत सामाजिक संस्कारों की व्यापक अभिव्यक्ति ।

महदनुष्ठान उसे कहते हैं जिसका प्रभाव देश और काल की दृष्टि से अपरिमेय हो । जैसे महाभारत अथवा रामायण की प्रधान घटना । उस घटना का प्रभाव कोटि-कोटि मनुष्यों पर पड़ा, और युग-युग तक उसका प्रभाव परिलक्षित हुआ ।

महच्चरित्र में भी चरित्रगत विशेषताओं की अपरिमेयता रहती है । राम महच्चरित्र हैं क्योंकि राम में अनन्त शील, अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य है ।

सामाजिक संस्कारों की अभिव्यक्ति का अर्थ है, किसी युग-विशेष में परम्परागत सामाजिक जीवन के स्वरूप का व्यापक चित्रण । महाकाव्य में समाज के खण्ड-विशेष का चित्र या व्यक्ति-विशेष के जीवन का चित्रण पर्याप्त नहीं । उसमें सम्पूर्ण जातीय संस्कारों को वाणी मिलनी चाहिये । रामायण या महाभारत में तद्व्युत्पन्न समाज के सम्पूर्ण चित्र हैं ।

बहुत-सी रचनाएँ साहित्यदर्पणकार द्वारा बताये गये लक्षणों की कसौटी पर उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं पर उनमें अनुष्ठान की व्यापकता, चरित्र की महत्ता और सामाजिक जीवन की सम्पूर्णता अगर नहीं हुई तो वे महाकाव्य के उच्चासन पर बैठने की अधिकारिणी नहीं । क्योंकि, शास्त्रीय कसौटी महा-

काव्य के स्वरूप का विधान निर्णीत करती है, उसके प्राणों का परिचय नहीं देती। प्राणहीन महाकाव्य वस्तुतः महाकाव्य नहीं है।

खण्डकाव्य—दृश्ययोजना, घटनाविकास, परिस्थितिनिर्माण, चरित्रचित्रण और भावव्यञ्जना से समन्वित रचना (प्रबंधकाव्य) चाहे सर्गबद्ध हो या न हो, चाहे उसका वृत्त ऐतिहासिक हो या कल्पित, चाहे उसका नायक ख्यात व्यक्ति हो या कोई सामान्य जन, यदि उसका अनुष्ठान या प्रधान कार्य साधारण होगा, महान नहीं, यदि उसके चरित्र साधारण होंगे, महान नहीं और यदि उसमें सामाजिक जीवन का एक खण्डचित्र मात्र होगा, सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं, तो हम उस रचना को खण्डकाव्य की संज्ञा देंगे। खण्डकाव्य भी प्रबन्धकाव्य है, केवल वह महाकाव्य की शास्त्रीय सीमाओं से मुक्त तथा महत् तत्त्व से अपेक्षाकृत रहित होता है। महत् तत्त्व का सम्यक् समावेश ही तो महाकाव्य को वह व्यापकता प्रदान करता है जिसके कारण उसकी सीमा के अन्दर सम्पूर्ण समाज के परम्परागत संस्कारों का सन्निवेश हो जाता है। खण्डकाव्य में समाज के किसी विशेष पक्ष या पहलू का ही उद्घाटन होता है।

इस दृष्टि से खण्डकाव्य महाकाव्य का लघुरूप मात्र नहीं, वरन् एक पृथक् रचनाविधान से युक्त स्वतंत्र काव्यरूप है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि खण्डकाव्य का साहित्यिक उत्कर्ष महाकाव्य से अनिवार्य रूप से कम है। क्योंकि दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं, उद्देश्य अलग-अलग हैं। तुलना समान में होती है, असमान की तुलना अप्रासंगिक है। खण्डकाव्य का क्षेत्र है समाज का पक्ष-विशेष, परिस्थिति-विशेष या अर्गविशेष। उस सीमित क्षेत्र में ही, लेकिन, खण्डकाव्य जीवन और मानव-भावों का अनुवीक्षणात्मक अध्ययन करने का प्रयास करता है। महाकाव्य में व्यापकता होती है, खण्डकाव्य में गहराई। दोनों के रचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न हैं। अतः, आवश्यक नहीं कि एक का लेखक दूसरे से अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ माना जाय।

हिन्दी में महाकाव्य कहे जानेवाले अनेक ग्रन्थ हैं—राम-चरितमानस, साकेत, प्रियप्रवास, हल्दीघाटी, आर्यावर्त्त, कामायनी, आदि। इनमें सभी महाकाव्य में अपेक्षित तत्त्वों से समन्वित हैं, यह मैं नहीं कह रहा; पर साधारणतः इन्हें लोग महाकाव्य कहते हैं क्योंकि साहित्यदृष्टिकार के अधिकांश लक्षण इनमें मिलते हैं। खण्डकाव्य के उदाहरण हैं—मिलन, पथिक, स्वप्न, पंचवटी, जयद्रथवध, द्रोण, आदि। इन खण्डकाव्यों में कथावस्तु इतिहास-पुराण से भी ली गई है, कल्पित भी है। नायक प्रसिद्ध भी है, अप्रसिद्ध भी। पर सामाजिक जीवन का खण्डचित्र प्रस्तुत करना सबमें अभिप्रेत है।

मुक्तक—मुक्तक रचना में दृश्य, घटना, परिस्थिति और

चरित्र की अनिवार्य योजना नहीं होती। भावव्यंजना तो होती ही है। भाव, रस या अनुभूति के बिना कोई कविता, कविता नहीं हो सकती।

स्फुट पद—मुक्तक रचनाओं में स्फुट पद भी हैं। स्फुट पदों में प्रत्येक पद में एक भाव या विचार की योजना होती है और वह पद अपने आप में पूर्ण रहता है, आगे-पीछे के पदों पर वह अर्थ-संगति या रसपरिपाक के लिये निर्भर नहीं हुआ करता। आलंकारिक चमत्कार-प्रदर्शन, उपदेश, नीति आदि सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये स्फुट पदों की योजना अक्सर होती है।

इन स्फुट पदों में संगीतात्मक प्रवाह, भावात्मक तीव्रता आदि के समावेश से गीतिकाव्य या प्रगीत मुक्तक की योजना होती है।

गीतिकाव्य—गीतिकाव्य में घटना, चरित्र, दृश्य, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं होती। उसमें केवल भावव्यंजना और रस-परिपाक पर कवि की दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। गीति काव्य में, इसीलिये, जीवन का एक क्षण बोज़ता है। जीवन के घटनात्मक क्रमिक विकास का चित्रण उसमें नहीं होता। पर जीवन का वह एक क्षण अतिशय महत्त्व का होता है। उस क्षण में कवि की समस्त वृत्तियाँ मानी किसी एक भाव की अनुभूति में केन्द्रित हो जाती हैं और उस भाव की अत्यन्त तीव्र एवं

मार्मिक अनुभूति में कवि लीन हो जाता है। उसका समस्त व्यक्तित्व उस भाव की अभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्त हो जाता है। असभूति की तीव्रता के कारण कवि का अन्तर स्वतः संगीत के स्वरों में फूट पड़ता है। छन्दों के मंजीर बज उठते हैं और वाणी-बीणा मंकृत हो उठती है। भावना की यह अतिशय तीव्रता क्षणस्थायी ही होती है—देर तक कवि भावना के चरम शिखर पर आरुढ़ नहीं रह सकता। अतएव गीतिकाव्य संक्षिप्त हुआ करता है।

इस प्रकार, हम गीतिकाव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ पाते हैं—

- (१) वैयक्तिक भावना का प्राधान्य अथवा आत्मनिष्ठता,
- (२) भावना का चरम उत्कर्ष तथा वृत्तियों का केन्द्रीकरण,
- (३) एक गीत में एक ही व्यापक भाव,
- (४) संगोतात्मक प्रवाह,
- (५) संक्षेप।

वीर-गीत—वीर-गात भी मुक्तक रचना का ही भेद है क्योंकि उसमें प्रबन्ध काव्य की सुशृंखल तथा अनुपातपूर्ण तत्त्व-योजना की अपेक्षा नहीं। वीर-गीत में प्रधान रस वीर होता है, तथा किसी वीर के चरित्र की प्रशस्ति होती है। चरित्र के साथ घटनाओं का भी वर्णन हो सकता है। लेकिन घटना-विकास या शृंखला-बद्ध घटनावर्णन आवश्यक नहीं। चरित्र का परिचय

तो दिया जाता है लेकिन चरित्र का सम्यक् चित्रण अथवा शील-निरूपण का अवकाश इसमें नहीं होता । वीर-गीत में भाव की प्रधानता होती है तथा संगीतात्मक प्रवाह हुआ करता है ।

आजकल कविता के कुछ नये रूपों के प्रयोग भी हिन्दी में हो रहे हैं । अंगरेजी सॉनेट (Sonnet) की तरह कुछ प्रयोग-वादी कवि आजकल चतुर्दशपदी मुक्तक लिख रहे हैं । वैचित्र्य-वर्द्धन के सिवा इनका कोई अन्य विशेष महत्त्व नहीं ।

— — —

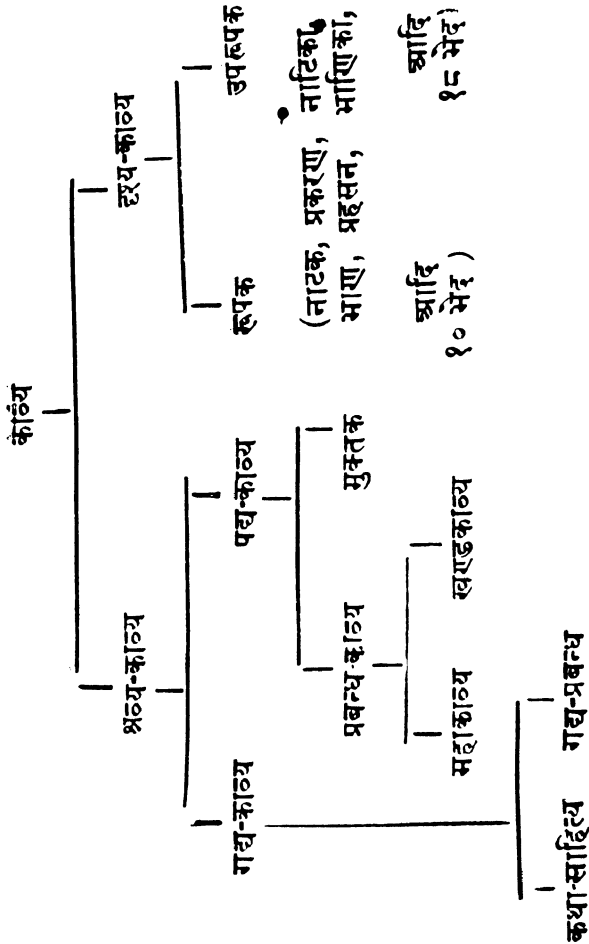
कहानी के तत्त्व

कहानी उपन्यास का छोटा संस्करण मात्र नहीं है। बल्कि इसके अलावे टेकनीक या रचना-कौशल की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है, पर कहानी में मानव-जीवन का एक खण्ड मात्र चित्रित होता है। कहानी और उपन्यास का परस्पर वही संबन्ध है, जो खण्डकाव्य और महाकाव्य का है। अतः उपन्यास में यदि जीवन को अपनी सम्पूर्णता में देखने और परखने की चेष्टा की जाती है, तो कहानी में जीवन के किसी विशेष पहलू पर ही कथाकार की दृष्टि केन्द्रित रहती है ! फलतः इस विशेष पहलू पर जितना आलोक कहानी में पड़ता है उतना शायद किसी भी पहलू पर उपन्यास में पड़ने के लिये अवकाश नहीं रहता।

दोनों के रचना-कौशल में अन्तर भी इसी अनुपात में होता है।

कहानी और रस

प्राचीन काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत काव्य के निम्नलिखित भेद बतलाये गये हैं—



इस प्रकार कथासाहित्य को काव्य का एक अंग माना गया है। काव्य की परिभाषा प्रमुख प्राचीन विद्वानों ने प्रायः यही मानी है—‘वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्’। ❀ अर्थात् रसात्मक काव्य ही काव्य है। अथवा, काव्य की आत्मा, उसका प्राण-तत्त्व रस है। अतः कथा-साहित्य में रस-तत्त्व का रहना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं समझा गया, बल्कि उसका प्रधान गुण माना गया।

लेकिन आज के कहानीकारों और कहानी-कला-मर्मज्ञों का विचार दूसरा है। उनके अनुसार कहानी रस-प्रधान नहीं, घटना-प्रधान या चरित्र-प्रधान होनी चाहिये।

रस कविता का प्रधान गुण है। रसात्मक व्यंजना का अन्तःसूत्र कहानी में भी वर्तमान होना चाहिये, फिर भी कहानी का प्रधान उद्देश्य रस-प्रयंजना नहीं। उसका उद्देश्य मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और मानव-मन के विविध रहस्यों के उद्घाटन द्वारा जीवन की व्याख्या करना है। इसलिये कहानी में प्रासंगिक रूप से शृंगार, वीर, कष्ट, हास्य आदि सभी प्रमुख रस आ सकते हैं, पर कथा-सूत्र के विकास के मूल में अद्भुत-रस ही रहता है जिसके प्रभाव से पाठकों का कौतूहल जाग्रत होता है और कहानी में मनोरंजन की शक्ति आती है।

आधुनिक हिन्दी कहानी

आधुनिक युग में कहानी क्यों लिखी जाती है ? आज का उत्कृष्ट कहानी-लेखक प्राचीन कथाकारों के समान पाठकों के हृदय में रस-सञ्चार कर लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराने के लिये नहीं लिखता । वह मध्यकालीन कहानीकारों की भाँति विचित्र और कौतूहलपूर्ण पर अस्वाभाविक और लोकवाह्य घटनाओं की माला जोड़कर पाठकों का सस्ता मनोरंजन करना भी नहीं चाहता । आज के कहानीकार का विषय है मानव-जीवन । जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालना, जीवन की परिस्थितियों और समस्याओं का विश्लेषण कर पाठकों को ऐसी दृष्टि प्रदान करना, जिससे वे मानव-मन और उसके व्यापारों के अन्तरतम रहस्यों को समझ सकें, आज के कहानी लेखक के प्रधान उद्देश्यों में से है ।

आधुनिक कहानी के तत्त्व इस प्रकार माने जा सकते हैं—

- | | |
|------------------------|----------------|
| १. शीर्षक, आरंभ और अंत | ६. दृश्य-योजना |
| २. स्वरूप-विधान | ७. देश-काल |
| ३. कथा-वस्तु | ८. भाषा-शैली |
| ४. चरित्र-चित्रण | ९. दृष्टिकोण |
| ५. कथनोपकथन | १०. संदेश |

शीर्षक, आरंभ और अन्त

(१) शीर्षक—कहानी का शीर्षक निम्नलिखित में से किसी एक वस्तु पर आधारित हो सकता है—

(क) प्रधान घटना— जैसे, रक्षा-बन्धन (कौशिक);
चित्तौर-उद्धार (प्रसाद) ।

(ख) प्रधान चरित्र — जैसे, आत्माराम (प्रेमचन्द);
पत्नी (जैनेन्द्र); दो बाँके (भगवती
चरण) ।

(ग) प्रधान भाव या समस्या—जैसे, उसने कहा था (गुलेरी);
रोज (अज्ञेय); एक रहस्य
(वियोगी) ।

(घ) घटनास्थल या अवसर—जैसे, ईदगाह (प्रेमचन्द); होली
की रात (वियोगी) ।

घटना-प्रधान कहानियों में शीर्षक प्रधान घटना पर, चरित्र-प्रधान कहानियों में प्रधान चरित्र पर, भाव या समस्या मूलक कहानियों में विशिष्ट भाव या समस्या पर आधारित होना चाहिये । शीर्षक एक प्रकार का शब्द संकेत है जिससे कहानी के मुख्य विषय या उद्देश्य का परिचय पाठकों को मिल जाना चाहिये । यदि कहानी का शीर्षक भ्रामक हुआ तो कहानीकार पाठकों के मनपर अभीष्ट रूप से प्रभाव डालने में असफल हो जा सकता है । अतः कहानी-लेखक के लिये शीर्षक के चुनाव में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है ।

कहानी का शीर्षक विषय-परिचायक होने के साथ-साथ अत्यन्त आकर्षक भी होना चाहिये । शीर्षक आकर्षक तभी कहा जा सकता है जब शीर्षक को देखते ही पाठक का मन कहानी की प्रधान घटना-वस्तु के प्रति उत्सुकता और उत्कंठा से इतना भर जाय कि उससे कहानी पढ़े बिना रहा ही न जाय । कुछ आकर्षक शीर्षकों के उदाहरण ये हैं—‘उसने कहा था;’ ‘‘एक रहस्य’’; ‘‘मुर्दा भाग गया’’; ‘‘गंगा, गंगादत्त और गांगी’’; ‘‘प्रोफेसर भीमभंटा राव’’; ‘‘शतरंज के खेलाड़ी ।’’

कहानी के शीर्षक एक से लेकर कई शब्दों तक के हो सकते हैं ।

(क) एक शब्द के— संन्यासी (मुदर्शन); ताई (कौशिक) ।

(ख) दो शब्दों के— रानी सारन्धा (प्रेमचन्द), दो बाँके (भगवती चरण) ।

(ग) तीन शब्दों के— उसने कहा था (गुलेरी), सिर का दान (ब्रियोगी), ‘सत्यनारायण की कथा’ (द्विज) ।

(घ) चार शब्दों का— ग्यारह वर्ष का समय (रा० च० शुक्ल) ।

(ङ) चार से अधिक शब्दों का—दुखिया मैं कासे कहों मोर सजनी, (चतुरसेन शास्त्री)

लेकिन कहानी के शीर्षक यदि तीन-चार शब्दों से अधिक के नहीं हों तो यह अधिक अच्छा होगा ।

(ii) आरंभ और अन्त—कहानी का आरंभ चमत्कार-पूर्ण और अंत प्रभावपूर्ण होना चाहिये । आरंभ में ही लम्बी दृश्य-योजना या परिस्थिति-चित्रण कई कहानियों में हम देखते हैं । लेकिन इससे पाठकों का मन कहानी की वस्तु के प्रति उत्सुकता से भर जाने के बजाय ऊब-सा जाता है । चमत्कारपूर्ण अभिनयात्मक ढंग के कथनोपकथन अथवा किसी विचित्र उक्ति से एकबारगी पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींच लेनेवाली कहानी आरंभ को दृष्टि से सफल समझी जायगी ।

शीर्षक की तरह कहानी का आरंभ विषय-परिचयात्मक हो, यह आवश्यक नहीं । आरंभ में कहानी के मूल रहस्यों को तो जितना गोपनीय रखा जा सके उतना ही अच्छा होगा, क्योंकि इन रहस्यों को शनैः शनैः खोलने से ही पाठकों की कौतूहल-भावना क्रमशः बढ़ती जा सकती है ।

कहानी का अंत निबन्धों के उपसंहार के समान कहानी के सारांश की सूचना दे, यह अनेच्छित नहीं । आधुनिक कहानी में यह भी नहीं चाहिये कि कहानी के अन्तर्भूत नीतितत्त्व को एकाधिक पंक्तियों में अंत में घोषित कर दिया जाय । कहानी का अंत इस ढंग से होना चाहिये कि पाठकों की उत्सुकता चरम परिणाम के ज्ञान के उपरान्त भी बनी ही रहे । कहानी पाठकों को आश्चर्य या विचार की किसी

निश्चित कोटि में नहीं छोड़ दे वरन् पाठकों का मन कहानी के प्रधान विषय के प्रति एक चिन्तनशील सजगता और भावात्मक उन्मेष में भरा रह जाय। कहानी पाठकों के मन पर कुछ अमिट छाप छोड़ जाय और उसका प्रभाव उन्हें किसी समस्या या परिस्थिति-विशेष के प्रति अधिक सजग बना डाले, इसके लिये आवश्यक है कि कहानी का अन्त विशेष कौशल के साथ हो। नारीत्व की घोषणा या कहानी के अन्तर्भूत जीवन-दर्शन की व्याख्या अन्त में जुले शब्दों में कर देने से यह प्रभाव मिट जाता है। प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' शीर्षक कहानी में यह दोष है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों का अन्त इस दृष्टि से अच्छा होता है।

स्वरूप विधान—स्वरूप-विधान की दृष्टि से कहानियों के भेद इस प्रकार हैं—

१. कथा के रूप में लिखी जानेवाली कहानियाँ,
२. आत्मकथा के रूप में लिखी जानेवाली कहानियाँ,
३. पत्र-व्यहार के रूप में " " "
४. डायरी के रूप में " " "

इनमें प्रथम प्रकार की कहानियाँ ही सर्वाधिक प्रचलित हैं, क्योंकि यह सबसे आसान पद्धति है। इसमें लेखक अपनी ओर से घटनाओं का, परिस्थितियों का, चरित्रों की निगूढ़तम भावनाओं का, कहानी की प्रधान समस्या का वर्णन और उसकी व्याख्या करने की पूर्णतः स्वतंत्र है। वह तटस्थ दर्शक की

मौति है, फिर भी सभी के हृदयों के रहस्य को जानता है और पाठकों को विश्वस्त ढंग से बतलाता चलता है। दूसरे प्रकार की कहानियों में यह अवकाश नहीं। लेखक स्वयं किसी पात्र-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। अतः जहाँ एक ओर वह इस विशिष्ट पात्र की मनोगत भावनाओं के सम्बन्ध में सर्वज्ञता का भाव धारण करता है, वहाँ दूसरी ओर अन्य पात्रों की भावनाओं और मनोदशाओं का उसे उतना ही ज्ञान रखने का अधिकार रहता है, जितना उनकी परिस्थिति और चेष्टाओं से ज्ञेय हो। इससे प्रथम तो उसकी जवाबदेही बहुत बढ़ जाती है कि वह जिस पात्र का प्रतिनिधित्व कर रहा हो उसकी मानसिक अवस्था तथा उसकी गतिविधि का मनोवैज्ञानिक ढंग से ठीक-ठीक ज्ञान रखे और उसकी सम्यक् व्याख्या में समर्थ हो। दूसरे, अन्य पात्रों की स्वतन्त्र मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अवकाश उसे नहीं मिलता। फिर भी कथा-रचना की यह पद्धति वहाँ अधिक उपादेय है जहाँ एक ही पात्र प्रधान हो और समस्त वस्तु उसी पर केन्द्रित हो।

पात्र-व्यवहार और डायरी की पद्धति वहाँ अच्छी होती है जहाँ विषय के दो या अधिक पहलू हैं और पात्र या डायरी का लिखनेवाला पात्र-विशेष ही अपने पहलू को ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर सकता है।

प्रेमचन्द की 'रानी सारन्धा' कथा के रूप में, सुदर्शन की

‘अंधेरी दुनियाँ’ आत्मकथा के रूप में लिखी कहानियों के उदाहरण हैं ।

कथा-वस्तु

(i) कहानी की कथावस्तु का विषय-क्षेत्र निम्नलिखित में से एक हो सकता है—

(क , ऐतिहासिक या पौराणिक, (ख) राजनीतिक या आर्थिक, (ग) सामाजिक, (घ) पारिवारिक, (ङ) मनोवैज्ञानिक, (च) काल्पनिक, (छ) अन्य ।

प्रत्येक क्षेत्र की अपनी जवाबदेहियाँ हैं । ऐतिहासिक कथावस्तु इतिहास और तत्संबन्धी अनुसन्धान पर आधारित रहती है । ऐतिहासिक कहानी में अपेक्षित यह है कि कहानी की प्रधान घटनाएँ (और प्रधान पात्र) इतिहास-सम्मत हो । इतिहास की रूप रेखा में बिना किसी प्रामाणिक आधार के परिवर्तन करने का अधिकार लेखक को नहीं है । लेकिन जहाँ इतिहास मौन है, उन रिक्त स्थानों की पूर्ति और प्रासंगिक घटनाओं की शृंखला द्वारा इतिहास के शुष्क सत्य को कहानी-कला का सरस मांसल रूप देने में लेखक कल्पना से काम लेने के लिये स्वतन्त्र है । पर ऐतिहासिक कहानी में यह कल्पना का इन्द्रधनुष भी इतिहास के मेघ-खण्डों पर ही शोभा पा सकता है । ऐतिहासिक कथा-वस्तु की योजना में ‘प्रसाद’ और ‘धृन्दावन लाल बर्मा’ एक हद तक सफल कहे जा सकते हैं ।

पौराणिक कथा-वस्तु में संस्कृति के प्राचीन स्वरूप की रक्षा और पौराणिक घटनाओं एवं चरित्रों की मुख्य रूप-रेखा का प्रतिनिधित्व आवश्यक है ।

राजनीतिक या आर्थिक कथा-वस्तु की योजना विशिष्ट राजनीतिक या आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित हो सकती है और घटना-विधान द्वारा उन सिद्धान्तों की कलात्मक व्यंजना हो सकती है । बेनीपुरी की ग्राम-जीवन सम्बन्धी कहानियों के तथा यशपाल की अधिकांश कहानियों के मूल में विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त या धारणाएँ निहित हैं ।

सामाजिक कथावस्तु में समाज की कुत्साओं और विषमताओं की तस्वीर के साथ-साथ सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा रहती है । प्रेमचन्द की कहानियाँ इस दृष्टि से सफल हैं । उनमें समाज सुधार की भावना निहित है । पर उग्र को सामाजिक कहानियों के क्षेत्र में पथ-भ्रान्त कहा जाता है, क्योंकि वे केवल सामाजिक अनाचार का चित्रण भर करते हैं, उससे ऊपर उठने की विकल प्रेरणा नहीं प्रदान करते । सामाजिक कहानी-लेखक की जवाबदेही यह है कि उसे समाज की वास्तविक समस्याओं को समझ कर समाज को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना है ।

पारिवारिक जीवन से ली गई कथावस्तु में परिवार में व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों की रहस्यमयता का

उद्घाटन और तत्संबन्धी परिस्थितियों की मासिकता की व्याख्या अपेक्षित है ।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र से ली गई कथावस्तु में घटनाओं की योजना का दृष्टिकोण यह होता है कि मानवमन की विविध निगूढ़ प्रवृत्तियों और उनसे प्रेरित मानव-व्यापार का विश्लेषण किया जाय और मानवव्यक्तित्व के मानसिक पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय ।

कल्पना-क्षेत्र से ली गई कथावस्तु में ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा नहीं । उसका उद्देश्य केवल कल्पना की रंगीनियों द्वारा पाठक का मनोरञ्जन करना है । कल्पना द्वारा प्रस्तुत सुन्दर दृश्यों की योजना, कल्पनावृत्ति के सहारे पाठकों के कौतूहल की अभिवृद्धि आदि इसके साधन हैं । जीवन के विषम कोलाहल से थककर पलायन के अभिलाषी पाठकों के लिये कल्पना-प्रधान कहानी विश्रान्ति-लाभ की दृष्टि से उपयोगी है ।

(ii) कथावस्तु के विभिन्न अवयवों में पूर्वापर क्रम तथा परस्पर संबन्ध होना आवश्यक है । घटना-विधान की दृष्टि से कहानी तभी सफल हो सकती है जब घटनाओं में कार्य-कारण संबन्ध की शृंखला वर्तमान हो । प्रत्येक घटना अपनी परवर्ती घटना के कारण और पूर्ववर्ती घटना के कार्य (परिणाम)

के रूप में हो। इस प्रकार समस्त घटनाओं की प्रगति अन्तिम गन्तव्य की ओर हो। कोई भी घटना आकस्मिक रूप में घटती नहीं प्रतीत हो या अकारण नहीं हो; नहीं तो कथावस्तु में अस्वाभाविकता आ जायगी। कथा-वस्तु के स्वाभाविक विकास पर आधुनिक कहानी को सफलता बहुत अंशों में निर्भर है। भगवती चरण वर्मा की 'दो बाँके', प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' और जैनेन्द्र को 'पत्नी' शीर्षक कहानियों में घटना-पन्ना दुर्बल होते हुए भी स्वाभाविकता लिये है।

(iii) घटना वर्णन में संयम की अत्यधिक आवश्यकता है। कोई भी ऐसी घटना का वर्णन कहानी में न हो जो कहानी के चरम उद्देश्य की सिद्धि की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक नहीं है। प्रत्येक घटना सोद्देश्य होनी चाहिये। उसका प्रभाव कहानी के फलागम पर अब य पड़े।

(iv) उपन्यास की कथावस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। लेकिन कहानी में समस्त कथा-वस्तु आधिकारिक मात्र होती है, उसमें प्रासंगिक कथा-वस्तु के लिये अवकाश नहीं। कारण यह कि कहानी में लेखक की सम्पूर्ण दृष्टि जीवन के किसी एक ही पहलू पर केन्द्रित (focussed) रहती है और उसे प्रासंगिक घटनाओं और परिस्थितियों की ओर ध्यान ले जाने की न तो आवश्यकता रहती है, न अवकाश।

(१) कहानियाँ घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान अथवा भाव या समस्या-प्रधान होती हैं। भाव या समस्या की अभिव्यक्ति और व्याख्या जब कहानी का प्रधान उद्देश्य हो तो घटनाओं और चरित्रों को उसी सीमा तक चित्रित करना चाहिये, जहाँ तक उस विशिष्ट भाव या समस्या की दृष्टि से वे आवश्यक हैं। चरित्र-प्रधान कहानियों में घटनाएँ उन्हीं अंशों में अपेक्षित हैं जिनमें वे प्रधान पात्रों की चरित्र-गत विशेषताओं पर प्रकाश डालने में सहायक हैं। लेकिन घटना-प्रधान कहानियों में कोई एक प्रधान घटना होती है—कोई विशिष्ट परिस्थिति होती है—जिसके उद्घाटन के लिये समस्त घटनाओं की योजना होती है। तात्पर्य यह कि घटनाओं का वर्णन अपने आप में उद्देश्य नहीं। उसका वर्णन किसी भाव की व्यञ्जना, किसी समस्या पर प्रकाश, किसी चरित्र के विश्लेषण या किसी प्रधान-घटना के उद्घाटन के उद्देश्य से ही होता है। अज्ञेय की कहानी 'रोज' और महादेवी का कहानी 'घीसा' चरित्र-प्रधान हैं। लेकिन 'रोज' की घटना-योजना 'घीसा' की घटना-योजना से अधिक उत्कृष्ट इसलिये है कि प्रथम की समस्त घटनाएँ प्रधान चरित्र की मनोदशा और परिस्थिति के चित्रण को दृष्टि में रख कर लिखी गई हैं, पर द्वितीय में बहुत-सी घटनाएँ निरुद्देश्य हैं।

(vi) आधुनिक कहानी की कथा-वस्तु में अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं के वर्णन के लिये गुंजाइश नहीं। हाँ,

अद्भुत और विचित्र घटनाओं से पूर्ण व्यंग्य-कहानी (fantasy) का कथा-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान अवश्य है ।

चरित्र-चित्रण

(i) कहानी में चरित्र-चित्रण की निम्न लिखित पद्धतियाँ हैं—

(क) वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण, जब कहानीकार अपने शब्दों में पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का विश्लेषण करता है । जैसे—

“मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं; इसलिये वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती तो याद दिला देती थीं । इन कारणों से मीरसाहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है; लेकिन जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी, और मीरसाहब दिन भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा । उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई । दिन भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जाती ।”

(शतरंज के खिलाड़ी—प्रेमचन्द)

(ख) अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण, जब पात्रों के परस्पर वार्त्तालाप से उनके (निजी अथवा अन्य पात्रों के) चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है। नाटक में चरित्र-चित्रण की अधिकतर यही पद्धति प्रयुक्त होती है, क्योंकि नाटक अधिकांश में कथोपकथन के रूप में ही पाठकों के सामने आता है। इसलिये कथोपकथन या वार्त्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण की पद्धति को अभिनयात्मक कहते हैं। इसका उदाहरण निम्नांकित है—

“मैं उसके यहाँ कभी नहीं जाता, पर उससे मेरी जान-पहचान पूरी है।”

“यह कैसे ?”

“वह स्वयं कभी-कभी मेरे घर आ जाती है।”

“झिपकर ?”

“नहीं, वह चोरी से नहीं आती। मेरे बूढ़े चाचा उसे बेटी की तरह मानते हैं। वह मुझे अपना छोटा भाई समझती है।”

“पर मैंने तो कभी नहीं देखा !”

“कभी ऐसा मौका ही न लगा। देखना चाहते हो ?”

(वह तस्वीर—द्विज)

(ग) घटनात्मक या संकेतात्मक चरित्र-चित्रण, जब पात्रों के मनोभावों की व्यंजना घटनाओं अथवा

शारीरिक चेष्टाओं द्वारा सांकेतिक ढंग से होती है। चरित्र-चित्रण का यह टेकनीक सबसे आधुनिक है और हिन्दी में व्यापक रूप से यह जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि की कहानियों में प्रयुक्त हुआ है। अज्ञेय की 'रोज' शीर्षक कहानी की नायिका का चरित्रांकन इसी ढंग का है।

(ii) आधुनिक कहानियों में चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का बहुत अधिक महत्त्व है। चरित्र मनोवैज्ञान के तथ्यों के आधार पर चित्रित हों और उनके मनोभावों एवं व्यवहारों के मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित किये जायँ, इसकी अपेक्षा आज की कहानी में रहती है। फ्रायड तथा अन्य पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के आधार पर वर्णन, घटनाओं या वार्त्तालाप द्वारा प्रधान पात्रों के चेतन, उपचेतन और अचेतन मन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का अध्ययन और विश्लेषण आज के चरित्र-प्रधान कहानीकार का प्रधान लक्ष्य हुआ करता है। हिन्दी में इस दिशा में जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि कुछ कलाकार कुछ अंशों में प्रयत्नशील हैं।

(iii) पाश्चात्य पद्धति से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यदि कहानी में नहीं भी हो, तो भी कहानी के चरित्र ऐसे होने चाहिये जिनमें जीवन की स्वाभाविकता हो। अपनी मनोवृत्तियों और व्यवहारों की दृष्टि से वे वास्तविक मनुष्य जैसे

लगें । प्रेमचन्द, कौशिक, राधाकृष्ण प्रसाद आदि इस युग के सभी कलाकारों के चरित्र बहुत कुछ स्वाभाविक होते हैं ।

(iv) चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—(क) साधारण, और (ख) असाधारण । जहाँ मनोवैज्ञानिक समस्याओं का अध्ययन उद्देश्य होता है वहाँ अक्सर असाधारण चरित्रों का प्रश्रय लिया जाता है अथवा सामान्यतः साधारण चरित्रों के भी कुछ विशिष्ट असाधारण पहलुओं पर आलोक केन्द्रित किया जाता है । प्रेमचन्द के अधिकांश चरित्र साधारण हैं । वियोगी जी के 'पागल' का नायक या 'सूनी गोद' की नायिका असाधारण है ।

(v) विकास को दृष्टि से भी चरित्रों के दो भेद सम्भव हैं—(क) स्थिर चरित्र और (ख) गतिशील चरित्र । स्थिर चरित्र की प्रवृत्तिगत रूपरेखा आरम्भ से अन्त तक बहुत कुछ समान रहती है । पर गतिशील चरित्रों की प्रवृत्तियों में विकास होता रहता है और कभी-कभी परिस्थितियों के प्रभाव से चरित्र की रूपरेखा बिल्कुल बदल जाती है । प्रेमचन्द का 'आत्माराम' स्थिर चरित्र और राधा-कृष्ण की 'रामलीला' के पात्र गतिशील चरित्र के उदाहरण हैं ।

(vi) उःकृष्ट चरित्र-प्रधान कहानियों में चरित्र अपने विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि-स्वरूप ही नहीं होते, उनका अपना पृथक् व्यक्तित्व भी होता है । केवल उनकी सामान्य रेखाएँ ही चित्रित नहीं होतीं, वरन् उनकी

व्यक्तिगत विशेषताएँ भी अभिव्यक्त होती हैं। प्रेमचन्द और कौशिक के अधिकांश चरित्र वर्गगत हैं, जैनेन्द्र और अज्ञेय के अनेक चरित्र विशिष्ट व्यक्ति हैं। उदाहरण— प्रेमचन्द के मोर और मिर्जा वर्गगत है, जैनेन्द्र की सुनन्दा व्याक्त-गत।

(vii) चरित्र-चित्रण में चरित्र की सजोवता की ओर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। चरित्र का इतना अधिक मनोविश्लेषण कर डालना कि वह मांसल और जीवित व्यक्ति न रहकर पोस्टमार्टम के लिये प्रस्तुत शव जैसा हो जाय, अथवा चरित्र को सिद्धान्तों या आदर्शों का ग्रामोफोन बना डालना, दोनों बातें कला की दृष्टि से त्याज्य हैं। चरित्र का प्रभाव-पूर्ण और स्पन्दनशील होना अनिवार्य है।

कथोपकथन

(i) कहानी का कथोपकथन या वार्त्तालाप सोद्देश्य होना चाहिये। उसका उद्देश्य चरित्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालना, घटनाओं को गति प्रदान करना, परिस्थिति का चित्रण करना, कहानीगत प्रधान समस्या या भाव की व्याख्या करना आदि हो सकता है। जहाँ चरित्र-चित्रण अभिनयात्मक ढंग का होता है, वहाँ कथोपकथन का उद्देश्य चरित्र-विशेष के मन तथा उसके रहस्यों का चित्रण करना होता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, भगवतीचरण, कौशिक, जैनेन्द्र आदि सभी उत्कृष्ट

कलाकारों की कहानियों में कथनोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण रहता है। कथनोपकथन द्वारा घटनाओं की गति की व्यञ्जना अथवा परिस्थिति का चित्रण लेखक के शब्दों में इनके वर्णन की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण होता है। तात्पर्य यह है कि कथनोपकथन का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिये। बेकार, निरुद्देश्य वार्त्तालाप कहानी कलेवर को तो बढ़ाते हैं, लेकिन कहाना के संश्लिष्ट प्रभाव को बहुत अंशों में नष्ट कर देते हैं। कहानी कला की वस्तु है और कला संश्लिष्ट भाव-योजना है, एक जीवित सामञ्जस्यपूर्ण इकाई है, अतः कहानी के विभिन्न कलपुर्जे यदि उचित-रूप से कसे नहीं होंगे तो उसका सम्यक् प्रभाव पाठकों पर नहीं पड़ेगा।

(ii) इसीसे कहाना के कथनोपकथन में संयम और सन्तुष्ट की भी आवश्यकता है। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों या विचारों का अत्यंत कौशल-पूर्वक वर्णन, दो-चार शब्दों से किसी चरित्र या परिस्थिति के विषय में व्यञ्जक संकेत, इसीमें कलाकार का वाक् संयम निहित है। कथनोपकथन का संयम, इस दृष्टि से प्रेमचन्द से अधिक प्रसाद, जैनेन्द्र और अज्ञेय में है।

(iii) कथनोपकथन पात्रोचित होना चाहिये। 'पात्रोचित' का एक अर्थ तो यह हो सकता है कि जिस वर्ग, स्थिति, देश, काल, शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों का पात्र हो, उसकी बातचीत की भाषा उसीके अनुकूल हो। यह बात हम प्रेमचन्द की

कहानियों में देखते हैं। प्रेमचन्द्र के बंगाली पात्र उसी प्रकार की टूटी-फूटी हिन्दी बोलते हैं जैसी अक्सर बिहार या युक्तप्रान्त के कम हिन्दी जाननेवाले बंगाली बोला करते हैं। उनके मुसलमान पात्रों की भाषा में ज्यादातर उर्दू के 'अल्फाज' भरे रहते हैं। अर्थात् भाषा का स्वरूप ही पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के साथ बदलता है। 'पात्रोचित' शब्द का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि कथनोपकथन द्वारा ऐसे विचार या भाव व्यञ्जित किये जायें जो पात्र के वर्ग, शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों के अनुकूल हों, लेकिन भाषा का स्वरूप कहानी भर में एक समान बना रहे। हाँ, भावाभिव्यक्ति की शैली में अत्यंत आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत अन्तर रहे तो कोई हर्ज नहीं। प्रसाद जी की कहानियों और नाटकों के कथोपकथन इसी ढंग के होते हैं। प्रसाद जी के पात्र अनेक वर्गों, अनेक संस्कारों और अनेक देश-कालों के हैं, लेकिन सभी के वार्त्तालाप की भाषा का स्वरूप एक समान है। फिर भी पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ उनके वार्त्तालाप से अवश्य व्यञ्जित होती हैं—कथनोपकथन द्वारा पात्रों की पहचान बहुत कुछ हो जाती है। अतः कथनोपकथन की भाषा में एकरूपता होते हुए भी, भावों, विचारों और वाक्यविन्यास की दृष्टि से प्रसाद जी का कथनोपकथन पात्रोचित है।

प्रेमचन्द्र के कथनोपकथन की प्रणाली में, जहाँ भाषा का स्वरूप ही पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के अनुपात में बदल दिया जाता है, खतरा यह है कि यदि अनेक भाषा-भाषी प्रांतों

अथवा देशों के पात्र कहानी में संयोगवश समाविष्ट हो गये तो कहानी का कथनोपकथन खासा चोंचों का मुरब्बा हो जा सकता है। हिन्दी के अन्य अधिकांश आधुनिक कहानीकारों का मार्ग जो प्रेमचन्द और प्रसाद के बीच का है, इस दृष्टि से अधिक उचित है।

(iv) कथनोपकथन का चमत्कारपूर्ण और नाटकीय ढङ्ग का होना अच्छा होता है। इस दृष्टि से प्रसाद जी की कहानियों के कथनोपकथन की शैली अनुकरणीय है। कथनोपकथन में छोटे-छोटे वाक्य अच्छे होते हैं। लम्बे वाक्य, कुछ दूर तक चलती हुई एक व्यक्ति की अत्यन्त लम्बी उक्ति आधुनिक कहानियों के लिये उचित नहीं। कथनोपकथन में लेखरबाजी अपेक्षित नहीं। रसात्मक वर्णन अथवा भावपूर्ण लम्बी उक्तियों के लिये आधुनिक कहानी में कथनोपकथन का ज्यादा अवकाश नहीं है, अर्थात्, कथनोपकथन को चुस्त, चमत्कारपूर्ण और गतिशील होना चाहिये।

दृश्य योजना

कहानी में दृश्य-योजना की न तो बहुत अधिक आवश्यकता है और न अधिक अवकाश। नाटक में जिस प्रकार एक स्थानीय और संक्षिप्त दृश्य-संकेत हुआ करते हैं, उस प्रकार कहानी में अपेक्षित नहीं। उपन्यास में जिस प्रकार विस्तृत दृश्य-विधान रहता है उसके लिये कहानी में जगह नहीं। कहानी

की दृश्य योजना सांकेतिक रूप से सर्वत्र बिखरे रूप में होती है। दृश्यों के संश्लिष्ट वर्णन की अपेक्षा स्थल-संकेत और परिस्थिति निर्माण की दृष्टि से वातावरण का अत्यन्त संचिप्त, पर प्रभाव-पूर्ण चित्रण कहानी में अधिक होगा। दृश्य-चित्रण के रूप में आधुनिक कहानियों में अधिकतर मानव-जगत् का ही चित्रण होता है, मानवेतर जगत् का नहीं; ड्राइंगरूम, सड़कें, पार्क, क्लब, रेल के डब्बे आदि कहानियों में अधिक स्थान पाते हैं, लेकिन आधुनिक कहानीकार की रुचि प्रकृति के अनेक रमणीय रूपों के चित्रण की ओर अक्सर नहीं देखी जाती है। पर उपन्यासों की बात दूसरी है। उसमें अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विस्तारपूर्वक किसी कमरे में रखी वस्तुओं का चित्रण, प्रकृति के किसी विशेष पक्ष का कुछ दूर तक चलता हुआ वर्णन आदि के लिये अवकाश है, लेकिन कहानी के छोटे कलेवर के लिये कलाकार को केवल उन थोड़ी-सी रंग-रेखाओं को चुन लेना पड़ता है जिसके सहारे अभीष्ट प्रभाव की उपलब्धि कहानी में हो जाय।

देश-काल

कहानी में दृश्य-योजना, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन, भाषा-शैली आदि के सिलसिले में सर्वत्र देश और काल का ध्यान रखना आवश्यक है। कहानी की कथावस्तु का सम्बन्ध जिस देश और जिस काल से हो उसकी विशेषताओं का पूरा-पूरा ज्ञान लेखक को होना चाहिये। कहानी में कोई ऐसी बात न

आ जाय जो उस भूमिभाग या उस विशिष्ट युग के वातावरण के प्रतिकूल हो और जिससे कहानी में अस्वाभाविकता आ जाय। ऐतिहासिक कहानियों में इसका ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। मौर्य-कालीन कथानक को लेकर चलने वाली कहानी में हुक्के, साइकिल, रिक्शे, आधुनिक ढंग के ड्राइंग रूम, धोती, कुरते आदि का जिक्र भी ले आना कला के प्रति घोर अन्याय होगा। उसी प्रकार आधुनिक कथावस्तु वाली कहानी में उत्तरीय, रथ, मुकुट आदि के लिये गुंजाइश नहीं। कथनोपकथन के सिलसिले में भी इस ओर ध्यान रखना आवश्यक है। 'प्रसाद' जी की ऐतिहासिक कहानियों की भाषा यदि संस्कृतोन्मुख है और यदि उनके कथनोपकथन प्राचीन शैली में हैं तो यह देश-काल को दृष्टि में रखकर ही किया गया है।

भाषा-शैली

(i) कहानियों की भाषा-शैली में सबसे प्रथम और अनिवार्य तत्त्व मनोरञ्जकता और आकर्षण का होना चाहिये। भाषा चमत्कारपूर्ण और आकर्षक हो, जिसमें पाठकों का कौतूहल बना रहे और उनका मन न ऊबने पाए। प्रसाद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण आदि की भाषा इसका उदाहरण है।

(ii) इसके लिये यह भी आवश्यक है कि भाषा अत्यंत सरल और बोधगम्य हो। उसमें क्लिष्ट शब्दों या सामासिक

पदावली का बाहुल्य न हो और न वाक्य-विन्यास ही पेचीदे ढंग का हो। अलंकार से बोझिल या प्रतीकात्मक भाषा अपेक्षित नहीं। ऐसी भाषा से पाठकों का ध्यान कहानी की वस्तु से हटकर भाषा के वैचित्र्य और बारीकियों में उलझ जाता है और कहानी की प्रगति के साथ-साथ पाठकों के मन को ले चलने में बाधा पहुँचती है। भाषा की सरलता की दृष्टि से प्रेमचन्द की कहानियाँ आदर्श कही जा सकती हैं।

(iii) जहाँ अत्यन्त जटिल चरित्रों या मनोवेगों का विश्लेषण अथवा अत्यन्त गम्भीर भावनाओं की व्यञ्जना अपेक्षित होता है; वहाँ भाषा-शैली में सरलता बनाये रखना बहुत बड़े कौशल का परिचायक है। साधारणतः ऐसे स्थलों पर भाषा कुछ जटिल, वाक्य-विन्यास कुछ पेचीदा और शब्द-योजना कुछ असामान्य हो जाती है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की भाषा कुछ ऐसी ही है। अज्ञेय की कहानियों के पात्र अनेक प्रकार के संस्कारों और प्रवृत्तियों के संश्लिष्ट स्वरूप हुआ करते हैं, अतः उनके मनोभाव इतने जटिल और उलझे होते हैं कि इनकी अभिव्यक्ति और व्याख्या के लिये भाषा को अपनी पूरी शक्ति लगानी पड़ती है। अतः लाक्षणिक प्रयोग और वाक्य-विन्यास का वैचित्र्य अनिवार्यतः आ ही जाते हैं। जैनेन्द्र की भाषा क्लिष्ट शब्दों के अभाव की दृष्टि से सरल सी लगती है, लेकिन उसमें अर्थ कहीं-कहीं संकेत-सिद्ध और

व्यञ्जनामूलक होने के कारण साधारण बुद्धि के पाठक के लिये सरल नहीं होता ।

दृष्टिकोण

कहानी के अध्ययन अथवा उसके कलात्मक विश्लेषण में कहानीकार के दृष्टिकोण पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि कहानी की सफलता बहुत अंशों में स्वस्थ और उचित दृष्टिकोण पर निर्भर है ।

(i) कहानीकार का दृष्टिकोण यथार्थवादी हो सकता है अथवा आदर्शवादी । यथार्थवादी कलाकार जीवन और जगत् की विभिन्न घटनाओं परिस्थितियों और चरित्रों को अपने नग्न, वास्तविक रूप में रखने का प्रयास करता है । जीवन जैसा है, वैसा ही वह उसे चित्रित करता है । आदर्शवादी कलाकार जीवन के वास्तविक वर्तमान का चित्रण न कर उसका वैसा चित्रण करता है जैसा जीवन को होना चाहिये । उसका दृष्टिकोण कुछ नैतिक-सा होता है । उसे सदा इस बात का ध्यान रहता है कि जो प्रभाव उसकी कहानी द्वारा समाज पर पड़े, वह समाज के नैतिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठानेवाला हो । यथार्थवादी कलाकार जीवन की वैज्ञानिक व्याख्या तथा तटस्थ, आत्मनिरपेक्ष चित्रण का पक्षपाती होता है, लेकिन आदर्शवादी कलाकार जीवन के दार्शनिक पक्ष की ओर भी दृष्टि ले जाता है तथा उसका

अनुभूति-प्रधान आत्मसापेक्ष आदर्श-रूप सामने रखता है। पहले में वस्तु की प्रधानता होती है, दूसरे में भाव की।

दोनों पथ साहित्य के लिये समीचीन हैं; यों तो दुरुपयोग दोनों का हो सकता है। जैसा 'उग्र' की कहानियों में हुआ है, यथार्थवाद का दुरुपयोग सामाजिक कुत्साओं के नग्न-प्रदर्शन द्वारा मानव की कमजोरियों को उकसाकर सस्ता आकर्षण पैदा करके किया जा सकता है, और आदर्शवाद का दुरुपयोग कहाना को नीति और उपदेश की पिटारी बनाकर किया जा सकता है। लेकिन अपने उचित रूप में दोनों पथ श्रेयस्कर हैं। प्रेमचन्द के विचार में उचित दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का है, जिसमें दोनों दृष्ट्या का मधुर सामञ्जस्य रहता है, अर्थात् समाज के वास्तविक जीवन से ही वस्तु का सावधानी से ग्रहण कर उसे अपने भावानुरूप तथा उद्देश्यानुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है। प्रेमचन्द की कहानियों का दृष्टिकोण यही है।

(ii) कहानी के दृष्टिकोण पर एक दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है। कलाकार का दृष्टिकोण परम्परावादी और आस्थामूलक हो सकता है; अथवा स्वच्छन्दतावादी और सन्देह-मूलक या विद्रोह-मूलक। परम्परावादी दृष्टिकोण से प्रभावित कहानी की कथावस्तु, चरित्र, प्रधान भाव आदि सभी इतिहास सिद्ध, पुराण-सिद्ध या लोकानुभव-सिद्ध होंगे। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत कलाकार प्राचीन

तथा वर्त्तमान सामाजिक विधानों और संख्याओं को एक हद तक उचित मान कर चलता है। उसके भाव, उसके विचार या उसकी परिपाटी परंपरा-सिद्ध होती है। उसका स्वर वर्त्तमान व्यवस्था या संस्कृति के प्रति आस्था और विश्वास का स्वर होता है। प्रेमचन्द, कौशिक, राधाकृष्ण, जैनेन्द्र आदि इस कोटि के कलाकार हैं।

लेकिन दूसरी कोटि के कलाकारों का दृष्टिकोण स्वच्छन्द और विद्रोह-भूलक होता है। नए भाव, नए विचार, नए प्रकार के चरित्र, नवीन सामाजिक या मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, नई वर्णन-प्रणाली इस दृष्टिकोण के उपादान हैं। इस कोटि का कलाकार प्राचीन मात्र में विश्वास नहीं रखता, वर्त्तमान व्यवस्था को संदेह की दृष्टि से देखता है और जीवन की समस्याओं पर एक मौलिक ढंग से विचार करता है। नवीन परीक्षण और प्रयोग का वह पक्षपाती है। ऐसी प्रयोगात्मक कला और स्वच्छन्द विद्रोही दृष्टिकोण के सिलसिले में अज्ञेय और यशपाल आदि प्रगतिशील कहानीकारों का नामोल्लेख किया जा सकता है।

(iii) रचना या विधान-कौशल के संबंध में भी लेखकों का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। कुछ कहानीकार अपने मन्तव्य की अभिव्यक्ति स्पष्ट घोषणा या सीधी उक्ति द्वारा करते चलते हैं। ये कहानी की मार्मिक परिस्थितियों और निगूढ़ रहस्यों की व्याख्या कर देते हैं जिससे कम-बुद्धि का

पाठक भी कहानी से उतना पा सके, जितना पाया जा सकता है। कुछ अन्य कहानीकार अपने मन्तव्य का केवल संकेत भर करते चलते हैं और इन संकेत-रेखाओं में रंग भरने का काम पाठकों के लिए छोड़ देते हैं। कहानी के अंत में भी घटनाओं को ये चरम परिणाम पर नहीं पहुँचाते, वरन् कहीं बीच में ही अचानक कथामूत्र अत्यन्त कौशल-पूर्वक समाप्त कर देते हैं जिसमें पाठकों की बुद्धि, कल्पनाशक्ति, जिज्ञासावृत्ति आदि की सम्यक् क्रीड़ा के कारण केवल कुशल पाठक ही इनकी कहानियों का पूरा आनन्द उठा सकता है। लेकिन अत्यन्त प्रभावपूर्ण होने के कारण आधुनिक कहानियों में अब इसी पद्धति की ओर कलाकारों का झुकाव अधिक है।

संदेश

कला चाहे सोद्देश्य हो या निरुद्देश्य, उसका एक मन्तव्य, एक सन्देश, एक अन्तर्दर्शन अवश्य होता है। विशुद्ध कला के लिये या स्वान्तःसुखाय लिखी जानेवाली रचना में भी जिस सौन्दर्य-लक्ष्मी का साक्षात् कलाकार को अपनी आत्मा के अगूढ़ अन्तर्गतल में होता है उसकी अभिव्यंजना और प्रभाव-प्रेषण उसका उद्देश्य होता है। यही पूर्ण सौन्दर्य और अनिर्वचनीय आनन्द कलाकार का संदेश है। जहाँ कला का उद्देश्य अपने से बाहर किसी जीवन-तत्त्व की व्याख्या या प्रतिष्ठा होता है, वहाँ तो निश्चय ही हमें इसकी खोज करनी

है कि वह तत्त्व-विशेष क्या है जिसकी प्रतिष्ठा के लिए रचना लिखी गई है। यही विशेष तत्त्व जिसका साक्षात् या जिसकी अनुभूति कलाकार को होती है, रचना की जान है और अन्ततः इसी की सफल एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति पर कलाकार की सफलता निर्भर है। कलाकार का तो यही चरम सन्देश है जिसकी प्रेषणीयता के लिये उसकी पंक्ति-पंक्ति प्रयत्नशील है।

उदाहरण के लिये, कालिदास के 'मेघदूत' में विरही यक्ष का वेदनामय सौन्दर्य-स्वप्न रचना का वह अन्तःस्पन्दन है जिसके कारण वह अमर है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में प्रेम के लौकिक वासनामयरूप तथा अलौकिक निष्काम स्वरूप की तुलनात्मक व्याख्या रचना के सन्देश के रूप में है।

छोटी कहानियों में यद्यपि कोई बहुत निगूढ़ या व्यापक मर्म-तत्त्व संदेश के रूप में रहे, इसके लिये सदा अवकाश नहीं, फिर भी सम्पूर्ण कहानी का अभिप्राय या मन्तव्य हर हालत में ऐसा होना चाहिये जिससे जीवन पर एक नया प्रकाश पड़े, मानव मन के किसी विशिष्ट स्तर की मौलिक व्याख्या हो, समाज के किसी विशेष उपेक्षित पहलू पर पाठकों की दृष्टि नए ढंग से आकृष्ट हो अथवा जगत् के किसी विशेष पक्ष या स्वरूप के प्रति पाठकों के मन में एक नूतन सौन्दर्य-भावना जाग्रत हो। तात्पर्य यह कि कहानी पढ़कर पाठक खाली हाथ न रह जाये, उसके अन्दर कुछ उपलब्धि की भावना होनी चाहिये।

कहानी की आलोचना या कलात्मक विश्लेषण के अन्तर्गत

सन्देश-तत्त्व के सिलसिले में प्रथम यह देखना चाहिये कि कोई महत्त्वपूर्ण संदेश कहानी का है या नहीं। पुनः इस बात का निश्चय करना चाहिये कि वह संदेश क्या है। साथ ही यह भी देख लेना आवश्यक है कि इस संदेश की स्पष्ट घोषणा, साफ शब्दों में अभिव्यक्त हुई है या अत्यन्त कलात्मक कौशल के साथ यथास्थान सांकेतिक व्यंजना है। सन्देश की अभिव्यक्ति की प्रणाली का औचित्य आवश्यक महत्त्व रखता है, क्योंकि संदेश की प्रेषणीयता में ही कहानीकार की सफलता है।

आधुनिक हिन्दी कहानी-लेखकों में कुछ ऐसे उच्च कोटि के कहानी-लेखक भी हैं जो अपनी कहानी द्वारा जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश डालने में या अन्तरनुभूत सौन्दर्य की प्रेषणीयता में बहुत अधिक सफल हैं।

प्रेमचन्द की 'आत्माराम' शीर्षक कहानी में, इस दृष्टि से मानव-हृदय के उस पुनीत चिर जाग्रत करुण-प्रेम की व्याख्या है जो अपने समत्व की परिधि में मानवों को ही नहीं, पशु-पक्षियों तक को अन्तर्भुक्त कर लेता है।

प्रेमचन्द की 'ईदगाह' शीर्षक कहानी में बाल-हृदय की ममता के उज्ज्वल स्वरूप पर परिस्थिति के मार्मिक व्यंग्य का प्रदर्शन है।

'वियोगी' जी के 'एक रहस्य' में तरुण मानव के स्वप्नदर्शी प्रणय-भाव पर परिस्थिति का क्रूरतम अट्टहास है।

जैनेन्द्र की 'पत्नी' शीर्षक कहानी में नारी-मनोविज्ञान के

एक महत्त्वपूर्ण पहलू की झलक है। पहलू है—नारी का उपेक्षित, आहत आत्म-सम्मान जो ममता के स्पर्श मात्र से झुक जाने को उत्सुक है।

अज्ञेय की 'रोज' शीर्षक कहानी में घर की चहारदीवारी के अन्दर आजीवन बन्दिनी नारी की जिन्दगी की करुण एकरसता की जीती तस्वीर है, जो हमारी वर्तमान पारिवारिक व्यवस्था के प्रति एक चुनौती है।

भगवती चरण के 'दो बाँके' में मानव-जीवन के उस अर्थहीन, उद्देश्यहीन कोलाहल की व्यंजना है, जिसके लिये हम इतना घमण्ड करते हैं। मानव जीवन का समस्त कोलाहल 'दोनों बाँके' की मुठभेड़ के समान ही अर्थहीन और अहंमूलक है—यही कलाकार का मन्तव्य है।

राधाकृष्ण के 'प्रोफेसर भोमभंटा राव', का तात्पर्य यह है कि जीवन में अक्सर ढकोसला भी सत्य का रूप धारण कर विजय-लाभ का साधन बनता है।

उग्रजी की कहानी 'गंगा, गंगादत्त और गांगी' में भावजगत् के मूल्यों और मानों की व्याख्या है। व्यक्ति के लिये शाश्वत जीवन और अमर जीवन जैसे प्रकाम्य वस्तुओं का भी कुछ महत्त्व नहीं यदि ये उसके प्रेमपात्र के काम न आ सकें—यही कहानी का मन्तव्य है।

उपसंहार

सम्पूर्ण कहानी का उत्कर्ष-अपकर्ष बहुत कुछ कहानी के

इन्हीं तत्त्वों की सम्यक् योजना पर निर्भर है। यदि कहानी का शीर्षक आकर्षक और वस्तु व्यञ्जक है, आरम्भ चमत्कार पूर्ण और अन्त प्रभावपूर्ण है; यदि कथावस्तु की जवाबदेहियों का उचित निर्वाह किया गया है तथा कथानक का संगठन उचित ढंग से हुआ है; यदि चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर तथा अत्यन्त कौशल पूर्वक हुआ है; यदि कथनोपकथन सोद्देश्य और पात्रोचित है; यदि दृश्य-योजना के औचित्य तथा देशकाल का ध्यान सर्वत्र रक्खा गया है; यदि भाषा सरस और शैली आकर्षक है; यदि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और पुष्ट है तथा यदि कहानी का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण मन्तव्य या संदेश है तो कहानीकार अपने प्रयत्न में अवश्य सफल है। कहानी के कलागत उत्कर्ष की दृष्टि से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, कौन कम, यह कहना कठिन है, प्रत्येक का अपनी जगह पर समान महत्त्व है, और कहानी के उत्कर्ष के लिये सभी का अलग-अलग और सम्मिलित रूप में उत्कर्ष चाहिये। कहानी के विविध अंगों में सामंजस्य होना भी आवश्यक है, क्योंकि कहानी एक संग्लिष्ट वस्तु है, जिसका एक प्रभाव, एक मन्तव्य तथा एक ही उद्देश्य भी है।

इन तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना उपयोगी होगा। कहानी एक कला है, और किसी भी कला के उत्कर्ष के जो कारणतत्त्व हैं वे कुछ अंशों में कहानी कला पर भी लागू होंगे। इस प्रकार, कहानी द्वारा शाश्वत

और चिरन्तन मानव-अनुभूतियों की व्यंजना; मानव और मानवेतर सृष्टि के बीच सामंजस्य ; विराट् तथा उदात्त सौन्दर्य का उद्घाटन; कथावस्तु में अन्तःसूत्र के समान व्याप्त आध्यात्मिक उन्मेष; रचनागत प्रभाव का पाठकों के हृदय तक सद्यः संक्रमित होने की क्षमता आदि ऐसे तत्त्व हैं जिनसे समन्वित होने पर साहित्य के अन्य अंगों की भाँति कहानी भी कलात्मक उत्कर्ष के उच्चासन पर प्रतिष्ठित होती है ।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास और कहानी—

कहा जा चुका है कि कहानी उपन्यास का छोटा संस्करण मात्र नहीं। उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है, कहानी में जीवन का खण्डचित्र होता है। महाकाव्य की तरह उपन्यास में भी सामाजिक जीवन का विस्तार अपेक्षित है। कहानी में जीवन के किसी विशेष पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। पर उपन्यास में महाकाव्य की ही तरह सामाजिक संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है। केवल आकार में बृहद् होने के कारण ही कोई रचना उपन्यास की कोटि में परिगणित नहीं की जा सकती। उपन्यास बड़ी कहानी का पर्याय नहीं, उसमें कुछ अन्य तत्वों की अपेक्षा है, जिनका विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

शीर्षक, आरम्भ और अन्त---

उपन्यास का शीर्षक भी प्रधान घटना, प्रधान चरित्र, प्रधान भाव या समस्या अथवा घटनास्थल या अवसर के अनुसार होता है। पर उसके आरम्भ और अन्त कहानी के आरम्भ और अन्त से भिन्न होते हैं। उसमें गम्भीर

परिस्थिति-निर्माण का प्रयत्न होने के कारण चमत्कारपूर्ण आरम्भ की अपेक्षा, प्रधान वस्तु के अनुकूल वातावरण बनानेवाले आरम्भ का अधिक महत्त्व है। आरम्भ से ही वातावरण का पता चल जाय और इस वातावरण की मोहिनी पाठक के मन-प्राणों को अभिभूत करने लग जाय, यह अत्यन्त आवश्यक है।

अन्त प्रभावशाली हो, यह तो आवश्यक है ही, पर कहानी के अन्त से उपन्यास का अन्त भिन्न होता है। उपन्यास के अन्त में सम्पूर्ण वर्ण्य वस्तु की सजगता और परिणाम की अनिवार्यता का भाव व्यक्त होना चाहिये।

कथावस्तु—विषयक्षेत्र की दृष्टि से कहानी और उपन्यास की कथावस्तु-योजना में अन्तर नहीं। दोनों के विषय कल्पित तथा ऐतिहासिक-पौराणिक हो सकते हैं और दोनों में क्षेत्रगत उत्तरदायित्व का पालन अनिवार्य है।

वस्तु-संघटन की दृष्टि से कहानी-उपन्यास में भेद है। कहानी का घटना-क्रम सरल रेखा में अग्रसर होता हुआ सीधे गन्तव्य तक पहुँचता है। पर उपन्यास में कई घटना-सूत्रों की परस्पर सम्बद्ध योजना होती है। कभी-कभी ये विभिन्न घटना-शृंखलाएँ एक दूसरे से परस्पर नितान्त असम्बन्ध और अपने आप में स्वतन्त्र-सी दीखती हैं, लेकिन अन्तिम गन्तव्य तक पहुँचते-पहुँचते इनका वास्तविक सघन सम्बद्ध स्पष्ट हो जाता है और फलस्वरूप अनेक घटनाग्रन्थियों

का उद्घाटन हो जाता है। इस प्रकार उपन्यास की घटना-योजना अत्यन्त पेचीदी होती है। इस पेचीदेपन या जटिलता का कारण यह होता है कि उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण अपेक्षित होता है, अथवा सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार की अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक जीवन के विविध पक्ष एक दूसरे से सम्बद्ध तो जरूर हैं, पर यह सम्बंध आरम्भ से ही सदैव स्पष्ट नहीं हुआ करता। उपन्यास जीवन का प्रतिनिधित्व करता है अथवा जीवन की ही प्रतिकृति है, अतएव उसमें जीवनगत उलझनों का नहीं होना ही आश्चर्य की बात होगी।

परन्तु यह आवश्यक है कि उपन्यास में ये विभिन्न घटना-शृंखलाएँ किसी एक ही प्रधान घटना-शृंखला की सहायिका बनकर विकसित हों और अन्त में किसी एक ही प्रधान कार्य की सिद्धि में पर्यवसित हों। अनावश्यक अथवा शिथिल घटना-सूत्रों एवं शाखाओं की योजना उपन्यास के कलात्मक ऐक्य में बाधक होगी। प्रधान या आधिकारिक कथावस्तु के सफल विकास के लिये ही अनेक प्रासंगिक कथाओं की योजना होती है।

उपन्यास भी कहानी की तरह घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान या समस्या-प्रधान हो सकता है और उसमें तदनु रूप ही पात्रों के चरित्र चित्रण एवं घटनाओं के वर्णन की योजना होनी

चाहिये। वास्तविक कलात्मक उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही कलाकृति के विभिन्न अवयवों का संघटन होना चाहिये।

चरित्र विकास—कहानी के चरित्रचित्रण और उपन्यास के चरित्रचित्रण में थोड़ा अन्तर है। कहानी में चरित्र के एक ही पहलू पर अक्सर प्रकाश डालने की चेष्टा कलाकार करता है। पर इस पहलू को वह तीव्र प्रकाश से जगमगा देता है। चरित्र की किसी विशिष्ट प्रकृति या उसकी कोई प्रमुख विशेषता का अणुबीक्षणत्मक अध्ययन हम कहानी में करते हैं। उपन्यास में चरित्रचित्रण का दायरा अधिक विस्तृत होता है। हम एक तो चरित्र को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण कर उसके विविध पहलुओं से परिचय प्राप्त करते हैं, दूसरे, उस चरित्र के निर्माण में योग देनेवाले दूसरे चरित्रों, घटनाओं एवं परिस्थितियों का भी अध्ययन हम करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार चरित्रगत विशेषताओं के कारणों की खोज ऐतिहासिक दृष्टि से एक विस्तृत आधार पर होती है।

उपन्यास में भी चरित्रचित्रण वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक, अभिनयात्मक, संकेतात्मक या घटनात्मक हो सकता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का आधार उसमें ग्रहण किया जा सकता है और चरित्रगत गुणधर्मों का उद्घाटन चेतन-अवचेतन और अचेतन मानसिक धरातलों के परस्पर सम्बन्ध के आलोक में किया जा सकता है। उपन्यास के चरित्र भी स्थिर अथवा गतिशील हो सकते हैं। वे विशिष्ट वर्गों के प्रति-

निधि अथवा पृथक्, स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखनेवाले व्यक्ति हो सकते हैं। उपन्यास के पात्रों की आलोचना करते समय इन बातों का ध्यान रखना उपादेय है।

कथनोपकथन—उपन्यास का कथनोपकथन कहानी के कथनोपकथन की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक हो सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उपन्यास के वार्तालाप में शब्द-संयम और सोद्देश्यता की आवश्यकता नहीं। वार्तालाप सजीव और पात्रोचित हो, यह भी जरूरी है।

दृश्ययोजना—कहानी की अपेक्षा उपन्यास में दृश्ययोजना के लिये बहुत अधिक अवकाश है। महाकाव्य की तरह उपन्यास में भी दृश्य-चित्रण का उपयोग घटनाओं की पूर्व-पीठिका तैयार करने के लिये, भावों की संवेदनीयता के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करने के लिये अथवा चरित्रों की विविध प्रतिक्रियाओं के अध्ययन के निमित्त सामग्री जुटाने के लिये होता है। दृश्यचित्रण दृश्यचित्रण के लिये नहीं होना चाहिये। रमणीय या आकर्षक दृश्य के वर्णन के मोह में पड़कर जब उपन्यासकार किसी दृश्य को अनावश्यक विस्तार प्रदान कर डालता है तो इससे उपन्यास के कलात्मक ऐक्य में बाधा पड़ती है। अतएव, दृश्यचित्रण की सोद्देश्यता और अनुपात अथवा औचित्य की ओर ध्यान रखना आवश्यक है।

देशकाल—उपन्यास में देश और काल का ध्यान रखना आवश्यक है। जिस देश और जिस काल की कथावस्तु हो

उसकी विशेषताओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। देश और काल की दृष्टि से यथार्थ-विरोधी बातों का कल्पित वर्णन उपन्यास में अपेक्षित नहीं। कल्पना का स्थान वहीं है, जहाँ सत्य मौन है। पर इतिहास-प्रसिद्ध सत्य का विरोध कला के अन्तर्गत निराधार रूप से नहीं होना चाहिये।

उपन्यास में देश और काल की दृष्टि से कहानी की अपेक्षा अधिक विस्तार रहता है। कहानी में सीमित देश और सीमित काल की घटनाएँ रहती हैं—कहानी में यह सीमा अत्यन्त विस्तृत हो जाती है। कभी-कभी यह सीमा असीम से जा मिलती है, अर्थात् विश्वजनीन और शाश्वत मानव समस्याओं, भावों तथा परिस्थितियों का चित्रण होता है। महत्त्व का समावेश उपन्यास में हो जाता है।

भाषा-शैली—उपन्यासकार की भाषा शैली में कौतूहल जाग्रत् रखने की अपार क्षमता की आवश्यकता है। क्योंकि यदि भाषा शिथिल हुई तो उपन्यास को पाठक पढ़ना ही छोड़ देगा, तथा पढ़ेगा भी तो उसका उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतएव भाषा में चमत्कार, आकर्षण, सजीवता और कौतूहल जगाये रखने की शक्ति चाहिये ही।

दृष्टिकोण—उपन्यासकार भी कहानीकार की ही तरह आदर्शवादी या यथार्थवादी हो सकता है, परम्परावादी या स्वच्छन्दतावादी हो सकता है, व्यक्तिवादी या समष्टिवादी हो सकता है। हमें देखना चाहिये कि कलाकार ने किस दृष्टि-

कोण से उपन्यास की रचना की है। उसके दृष्टिकोण के ही आलोक में घटनाओं-पात्रों आदि की सार्थकता असार्थकता की मीमांसा की जा सकती है। हाँ, उपन्यासकार को इसके लिये अवकाश है कि वह अपनी वृहद् रचना में अनेक पात्रों के मुख से परस्पर विरोधी वादों या सिद्धान्तों का अभिव्यञ्जन करे और स्वयं तटस्थ रहकर उन विविध सिद्धान्तों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का अध्ययन-अवलोकन करे। ऐसी दशा में यह समझना कि लेखक का वैयक्तिक दृष्टिकोण क्या है, उसी अनुपात में कठिन हो जाता है जिस अनुपात में वह पात्रों के व्यक्तित्व से अपने को तटस्थ रख सकता है।

उपन्यासकार और कहानीकार के दृष्टिकोणों में यह अन्तर होना चाहिये कि पहला समाज और सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टि केन्द्रित करता है और दूसरा व्यक्ति और वैयक्तिक अन्तर्धृत्तियों पर। उपन्यासलेखक कहानीलेखक की अपेक्षा अपने वर्ण्य-विषय से अधिक तटस्थता का भाव रखता है।

नाटक के तत्त्व

नाट्यशास्त्र—

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रेपणीयता के माध्यम के भेद से काव्य दो प्रकार के माने गये—

१. दृश्य-काव्य ;

२. श्रव्य-काव्य ।

दृश्यकाव्य का प्रथम शास्त्रीय विवेचन भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में मिलता है। भरतमुनि के काल का, विक्रम के लगभग तीन शताब्दी पूर्व अनुमान किया जाता है। इसके बाद इस विषय का शृंखलाबद्ध विवेचन धनञ्जय के 'दशरूपक' में १० वीं शताब्दी में हुआ। हिन्दी में प्रथम बार, जहाँ तक हमें पता है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में इस विषय का चर्चा की। पुस्तक रूप में दृश्यकाव्य, नाटक के तत्त्वों तथा सिद्धान्तों का विवेचन पहली बार बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने 'रूपक-रहस्य' में किया। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हीं प्रमाणों के आधार पर दृश्यकाव्य के भेदों तथा नाटक के तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

दृश्यकाव्य के विविध भेद—

दृश्यकाव्य के दो भेद माने गये—

(१) रूपक और (२) उपरूपक ।

रूपक के भेद —

रूपक के १० भेद हैं, जिनके नाम और विशेष-
ताएँ निम्न-लिखित हैं—

१. नाटक—५ से १० तक अंक इसमें होने चाहिये ।
इसकी कथावस्तु इतिहास या पुराण द्वारा
प्रसिद्ध हो । इसमें तीन रसों—शृंगार, वीर,
करुण—में से किसी एक की प्रधानता हो ।
संधियों में अद्भुत रस हो । ५ संधियाँ हों ।
उदाहरण—अभिज्ञान शाकुन्तल ।

२. प्रकरण—इसमें सभी बातें प्रायः नाटक के सामान
होती हैं । इसका विषय लौकिक और
कल्पित होता है । नायक धीर-प्रशांत
होता है । शृंगार रस की प्रधानता होती है ।
उदाहरण—

भवभूति का 'मालतीमाधव' अथवा शूद्रक का
'मृच्छकटिक' ।

३. भाण—इसमें धूर्तों और दुष्टों का चरित्र होता है ।
एक ही अंक होता है, तथा कथानक कल्पित
होता है । एक ही पात्र होता है तथा आकाश-
भाषित के रूप में वस्तु-सूचना दी जाती है ।

४. व्यायोग—इसमें एक ही अंक तथा एक ही दिन की
कथा होती है । कथा पुराण या इतिहास-

प्रसिद्ध होती है। नायक धीरोदात्त राजर्षि होता है। स्त्री पात्रों का प्रायः अभाव रहता है। वीर रस की प्रधानता होती है।

५. समवकार—इसमें तीन अंक होते हैं। १२ देवासुर नायक होते हैं तथा सभी की क्रियाओं के फल पृथक्-पृथक् होते हैं। वीररस की प्रधानता होती है। उदाहरण, 'समुद्र-मंथन'।

६. विम—समवकार की अपेक्षा अधिक भयानक होता है। चार अंक होते हैं। २६ तक उद्धत नायक—भूत, प्रेत, राक्षस, दैत्य, आदि—होते हैं।

७. ईहासृग—इसमें चार अंक होते हैं तथा कथानक अंशतः कल्पित होता है। धीरोदात्त नायक का नायिका के लिये प्रतिपक्षी प्रतिनायक से युद्ध होता है।

८. अंक—इसमें एक अंक होता है। अंशतः ख्यात, अंशतः कल्पित वृत्त होता है। करुण रस प्रधान होता है। स्त्रियों के शोक का वर्णन होता है। वैराग्योन्मेषिणी भाषा होती है। साधारण पुरुष नायक होता है।

९. वीथि—एक अङ्क ; और एक नायक होता है। दो एक

पात्र होते हैं। आकाशभाषित भी होता है।
शृंगार, विनोद, आश्चर्य की प्रधानता होती है।

१०. प्रहसन—यह भाण से मिलता-जुलता होता है। इसमें हास्यरस की प्रधानता होती है। उपदेश भी हो सकता है। कल्पित निंदा लोगों का चरित्र होता है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, विकृत और संकर। शुद्ध प्रहसन में पाखंडी, संन्यासी, पुरोहित आदि का चरित्र होता है; विकृत में कामुक आदि व्यक्तियों का और संकर में धूर्त, प्रपंची लोगों का चित्रण होता है।

उपरूपक के भेदः—ऊपरूपक के अठारह भेद नीचे दिये जाते हैं—

१. नाटिका—४ अङ्क; कल्पित कथा; नायक धीर-ललित राजा; शृंगाररस का प्राधान्य—ये नाटिका की विशेषताएँ हैं। उदाहरण—चन्द्रावली (भारतेन्दु)।

२. त्रोटक—इसमें ५, ७, ८ या ९ अंक, देवता और मनुष्य पात्र तथा शृंगाररस की प्रधानता होती है। जैसे—विक्रमोर्वशी।

३. गोष्ठी—एक अंक, ९-१० मनुष्य होते हैं जिनमें ६-७ स्त्रियाँ होती हैं। उदाहरण—रैवत मदनिका।

४. सङ्क—सम्पूर्ण प्राकृत में होता है। अद्भुत रस की

प्रचुरता होती है । अंकों को जवनिका कहते हैं ।

उदाहरण —राजशेखरकृत-कर्पूरमञ्जरी ।

५. नाट्यरासक —१ अंक, हास्यरस-प्रधान, उदात्त नायक
इसकी विशेषताएँ हैं । उ०—विलासवती ।

६. प्रधान —२ अङ्क, १० नायक । नायिका दासी होती है ।
उ० शृंगारतिलक ।

७. उल्लास्य —१ अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार
नायिकाएँ, शृङ्गार, हास्य, करुण रस होते हैं । उ०
देवी-महादेव ।

८. काव्य —१ अङ्क, हास्यरस, गीतों का बाहुल्य ।
उ० यादबोदय ।

९. प्रेक्षण —१ अङ्क, हीन नायक । उ० बालिवध ।

१०. रासक —१ अङ्क, ५ पात्र, मूर्ख नायक, प्रसिद्ध नायिका ।
उ० मेनकाहित ।

११. संक्षापक —३-४ अङ्क, पार्ष्णी नायक, शृङ्गार-करुण-रस
का अभाव । उ० माया कापालिक ।

१२ श्री गदित —१ अंक, प्रसिद्ध कथा, धीरोदात्त
नायक । उ० क्रीड़ा रसातल ।

१३. शिष्यक —४ अङ्क, शांत-हास्य का अभाव, नायक
ब्राह्मण । मरघट आदि का वर्णन इसमें होता है ।
उ०—कनकावती माधव ।

१३. विद्यासिका—१ अंक, हीन नायक; पर उसका वेश सुसज्जित होता है ।

१५. दुर्मल्लिका—४ अंक, हीन नायिका । उ०—
विदुमती ।

१६. प्रकरणिका—नायक व्यापारी, नायिका उसकी सजातीया, शेष बातें प्रकरण के समान होती हैं ।

१७. हल्लीश—१ अंक, उदात्त नायक, आठ-दस स्त्रियाँ, गान-ताल-लय का आधिक्य । उ० केलि रैवतक ।

१८. भाणिका—१ अंक, नायक मंदमति तथा नायिका प्रगल्भा । उ० कामदत्ता ।

नाटक के तत्त्व—प्राचीन विद्वानों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं—वस्तु, नेता, रस ।

वस्तुविचार—वस्तु के अन्तर्गत तीन बातें आती हैं—

(१) पूर्व रंग ;

(२) घटना वस्तु ;

(३) भरत वाक्य ।

(१) पूर्व रंग के भी तीन अवयव हैं—

(क) नान्दी (या मंगलाचरण)—नाटक के आरंभ में ;

(ख) प्ररोचना—सूत्रधार और नटी के वार्त्तालाप द्वारा लेखक,

नाटकीय वस्तु आदि संबन्धी सूचना जिसके द्वारा दर्शकों का आकर्षण बढ़े ;

(ग) प्रस्तावना—चमत्कारपूर्ण ढंग से कथारंभ । साहित्यदर्पण के अनुसार इसके ५ भेद हैं—उद्घातक कथोद्घात, प्रवर्त्तक, प्रयोगातिशय और अवगलित । प्रस्तावना का उद्देश्य चमत्कार-पूर्ण ढंग से, सुन्दरता के साथ मुख्य घटनाओं का आरम्भ करा देना है ।

(२) घटनावस्तु—नाटक की प्रधान घटना-शृंखला के दो भेद हम कर सकते हैं—(i) आधिकारिक—जिसके अन्तर्गत नायक का प्रयत्न-विस्तार और फलप्राप्ति आदि हैं, तथा (ii) प्रासंगिक—जिसके अन्तर्गत गौण पात्रों से संबन्धित ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो प्रधान या आधिकारिक घटनाओं की साधिका हों ।

अवस्था की दृष्टि से घटनावस्तु या 'कार्य' के पाँच भेद हैं जिन्हें कार्य की अवस्थाएँ कहते हैं । ये कार्य की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(क) आरम्भ—जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिये नायक में औत्सुक्य दिखलाया जाय ।

(ख) प्रयत्न—जब नायक उस फल की प्राप्ति के लिये उद्योग करे ।

(क) प्राप्त्याशा—जब सफलता की संभावना तो हो जाये लेकिन विफलता की आशंका भी साथ-साथ बनी रहे ।

(घ) नियताप्ति—जब नायक की सफलता निश्चित हो जाये ।

(ङ) फलागम—नायक को जब सभी वांछित फलों की प्राप्ति हो जाये । जब नायक अपने उद्देश्य में सफल हो जाये ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार घटनाओं का विकास बिलकुल सरल रेखा में होता है । नायक एक उद्देश्य (फल की कामना) लेकर चलता है, उसके लिये प्रयत्न करता है, उसकी सफलता की संभावना देखती है, फिर उसकी सफलता निश्चित हो जाती है, और, अन्त में फल की प्राप्ति नायक को ही हो जाती है । नायक अपने उद्देश्य में सफल होता है । नायक की विजय और प्रतिपत्ती प्रतिनायक को पराजय निश्चित है । प्राचीन भारतीय नाटक, दूसरे शब्दों में, सुखान्त होते थे । वे दुःखान्त नहीं होते थे । हिन्दी में दुःखान्त नाटकों की रचना पश्चिमी प्रभाव के फल-स्वरूप है । इस अनिवार्य सुखान्तता के भीतर एक गूढ़ तत्त्व छिपा था । नायक प्रायः सत्यश्रमी होता था तथा प्रतिनायक दुष्ट, अनाचारी व्यक्ति । नायक को पराजय का अर्थ होता असत् के आगे सत् की पराजय । रंगमंच पर ऐसा बार-बार दिखलाने से सत्य के प्रति लोगों की निष्ठा कम हो जाने का भय था, क्योंकि सत्य की पराजय देखने से सत्यप्रेमी हृदय में जो चोभ उत्पन्न होता है, वह सामान्य जनों के सत्य-प्रेम को हिला देने में सहज समर्थ है । प्राचीन आदर्शवादी आचार्य और

कलाकार अपनी रचनाओं द्वारा यह दुःप्रभाव नहीं देखना चाहते थे। अतएव प्राचीन नाटक सुखान्त ही होते थे।

कार्य की अवस्थाओं के अतिरिक्त नाटकीय वस्तु की प्रगति में अर्थ-प्रकृतियों और संधियों का योग भी अपेक्षित है। कथा-वस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारपूर्ण अंशों को अर्थप्रकृति कहते हैं। ये पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य। बीज, बिन्दु और कार्य का संबन्ध मुख्य या आधिकारिक कथा से है, पताका और प्रकरी का प्रासंगिक कथा से।

संधियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्ष, निर्वहण।

सन्धियों का कार्य-व्यापार की अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों से क्या संबन्ध है, यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

सन्धियाँ	कार्य की अवस्थाएँ	अर्थ-प्रकृतियाँ
मुख =	आरंभ +	बीज
प्रतिमुख =	प्रयत्न +	बिन्दु
गर्भ =	प्राप्त्याशा +	पताका
विमर्ष =	नियताप्ति +	प्रकरी
निर्वहण =	फलागम	कार्य

रंगमंच की दृष्टि से कथावस्तु के दो विभाग किये जा सकते हैं—

१. दृश्य ।

२. सूक्ष्म ।

लम्बी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, विप्लव, भोजन, स्नान आदि रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप में दिखलाना वर्जित है। अतएव ये व्यापार दृश्य नहीं, सूक्ष्म हैं। दृश्य व्यापारों को ही रंगमंच पर दिखलाना अभीष्ट है। दृश्य व्यापार को अंकों में विभाजित किया जाता है। नाटक में कम-से-कम पाँच और अधिक-से-अधिक दस अंकों का समावेश अपेक्षित है। दस से अधिक अंक होने से रचना महानाटक हो जायगी।

दो अंकों के बीच की घटनाओं को सूचित करने के लिये अर्थोपक्षेपकों की योजना की जाती है। इसके पाँच भेद हैं—
विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार। अर्थोपक्षेपकों द्वारा ऐसी घटनाओं का बोध दर्शकों को कराया जाता है जिनका रंगमंच पर स्पष्ट प्रदर्शन प्रयोजनीय नहीं होता लेकिन जिनकी जानकारी कथाविकास के हित में आवश्यक होता है।

पात्रों के कथनोपकथन की दृष्टि से वस्तु के तीन और भेद हैं—

१. आश्व—प्रकट, या प्रकाश, जिसे सभी पात्र सुनें ;

१. अभाष्य—या स्वागत, जिसे रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र नहीं सुनें ; वस्तुतः ऐसा केवल मान लिया जाता है कि बोलनेवाले तथा दर्शक तो

उसे सुनते हैं, लेकिन रंगमंच पर उपस्थित
अन्य पात्र नहीं सुनते ;

३. नियत भाव्य—जिसे कुछ नियत पात्र ही सुनें, दूसरे
नहीं ।

(४) भरतवाक्य—नाटक की घटनाओं की समाप्ति के
उपरान्त कोई पात्र सूत्रधार के प्रतिनिधि की हैसियत से आकर
ईश्वर का स्मरण तथा सभासदों (दर्शकों) को धन्यवाद
आशीर्वाद प्रदान करता है । इसे भरत-वाक्य कहते हैं ।

नायक-विचार—नाटक का नायक, धनस्त्रय के अनुसार,
त्यागी, विनीत, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, शास्त्रचक्षु, धार्मिक,
उच्चकुलोत्पन्न, शूर और तेजस्वी होना चाहिये ।

जैसे नाटकों में ख्यात वृत्त आवश्यक है, उसी तरह नायक
भी इतिहास या पुराण द्वारा लोकप्रसिद्ध अथवा अन्य कोई
विख्यात पुरुष होना चाहिये । सामान्य या नीच व्यक्ति नायक
नहीं हो सकता ।

स्वभाव-भेद से नायक के चार प्रकार हो सकते हैं—

(१) धीर ललित, जैसे—दुष्यन्त,

(२) धीर प्रशान्त, जैसे—बुद्ध,

(३) धीरोदात्त, जैसे—राम, चन्द्रगुप्त,

(४) धीरोद्धत, जैसे—लक्ष्मण, पशुराम ।

नायिका के प्रति व्यवहार तथा दृष्टिकोण के विचार से
नायक चार प्रकार के होते हैं—

- (१) अनुकूल, जो एक पत्नीव्रत हो तथा नायिका-
(पत्नी) ही के प्रति जिसका प्रेम हो ;
- (२) दक्षिण, जो अनेक नायिकाओं से प्रेम करे, लेकिन
प्रथम नायिका अथवा पत्नी के प्रति भी जिसका
प्रेम कम न हो ;
- (३) शठ, जो छिपकर अन्य नायिकाओं से अवैध
प्रेम करे ;
- (४) धृष्ट, जो सुलकर पापाचरण करे ।

जन्म से तीन प्रकार के नायक होते हैं—

- (१) दिव्य अर्थात् देवता आदि,
- (२) अदिव्य अर्थात् मनुष्य आदि,
- (३) दिव्यादिव्य अर्थात् नरदेहधारी देवता ।

पोठमर्द नायक के प्रधान सहायक को कहते हैं ।
वह पताका-नायक भी होता है । अन्य सहायक हैं—विट, चेट,
बिदूषक आदि ।

नायिका नायक की पत्नी या प्रेमिका को कहते हैं ।
(पारचात्य दृष्टि से कथासूत्र की प्रधान संचालिका को ही
नायिका कहा जायगा ।)

रस-विचार—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में हो रससिद्धान्त का
प्राचीनतम सुश्रुतखल उल्लेख मिलता है, तथापि राजशेखर ने
नन्दिकेश्वर को रससिद्धान्त का प्रवर्तक माना है ।

प्राचीनों ने रस नौ माने हैं—शृङ्गार, वीर, शान्त, करुण,

हास्य, अद्भुत, रौद्र, भयानक और वीभत्स । प्रत्येक रस के निम्नलिखित अवयव होते हैं जिनके द्वारा रस की व्यंजना होती है—

१. स्थायी भाव } अन्तः पक्ष—कार्य ।
२. संचारी भाव }

३. विभाव— आलंबन } बाह्य पक्ष—कारण ।
उद्दीपन }

४. अनुभाव—परिणाम—कार्य की परिचायक
चेष्टाएँ ।

५. आश्रय—आधार—क्षेत्र ।

नाटकों में तीन में से किसी एक रस का प्राधान्य होना चाहिये—शृङ्गार, वीर, करुण । प्रसंगवश अन्य रस भी आ सकते हैं । संधियों में अद्भुत रस होना चाहिये ।

प्राचीन नाटक काव्य के अन्तर्गत माने जाते थे तथा काव्य की आत्मा रस मानी जाती थी । अतएव नाटकों में भी रस का आस्वादन ही कलात्मक उद्देश्य या चरमसाध्य माना जाता था ! आज के पाश्चात्य नाटकों में रस के बदले शील-वैचित्र्य का निरूपण अथवा चरित्र-चित्रण का महत्त्व है । रस का स्थान मनोविज्ञान के आलोक में मानव-मन के विश्लेषण ने ले लिया है ।

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के तत्त्व

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार, हम देख चुके हैं, नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व हैं—वस्तु, नेता, रस । योरोपीय दृष्टि से नाटक में रस का महत्त्व नहीं । वहाँ नाटक को रसात्मक काव्य-साहित्य से पृथक् माना गया तथा उसका उद्देश्य मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों—समस्याओं, मानव-मन के भावों—अभिलाषाओं की रागात्मक (रसात्मक) व्यञ्जना नहीं, बरन् उनका विश्लेषण-विवेचन करना रहा है । फलतः योरोप के नाटकों में रस तत्त्व की कमी है ।

आधुनिक हिन्दी नाटकों पर योरोप के नाट्य-सिद्धान्तों का अत्यन्त गहरा प्रभाव, वस्तु और शैली, दोनों दृष्टियों से पड़ा है । पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जो नाटक हिन्दी में लिखे गये हैं उनकी आलोचना प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर हम नहीं कर सकते । अतएव यहाँ पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के विविध तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

कथावस्तु—नाटक की कथावस्तु के लिये उपयुक्त क्षेत्र मानव-जीवन है । जीवन जितना विशद और वैचित्र्य पूर्ण है उतनी ही नाटक की कथावस्तु हो सकती है । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काल्पनिक—अनेक प्रकार की कथावस्तु नाटकों में संभव है । देखना यह होगा कि जिस क्षेत्र की कथावस्तु है, उसकी जवाबदेहियों का उचित निर्वाह किया गया है या नहीं । जैसे, ऐतिहासिक कथावस्तु हो तो लेखक पर यह जवाबदेही है कि वह ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं में अकारण परिवर्तन अपने नाटक में न कर

दे। कोई ऐसी बात न हो जिससे इतिहास के सत्य को धक्का लगे।

दूसरी बात है, वस्तु का विन्यास सुशृंखल और संतुलित हो। घटनाओं का विकास स्वाभाविक ढङ्ग से हो और उसमें गति हो। कहीं शिथिलता नहीं आने पाये।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिमो ढङ्ग के नाटकों में घटनाएँ प्राचीन भारतीय नाटकों की तरह सरल रेखा में अग्रसर होती हुई अनिवार्य रूप से फलागम तक नहीं पहुँचती। भारतीय नाटकों में घटना-विकास कार्य पर आधारित रहता है, विरोध-पक्ष की पराजय निश्चित रूप से होती ही है। पश्चिमी नाटकों में घटना-विकास विरोधमूलक होता है। आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम—इस सरल क्रम से घटना विकास नहीं होता। वरन् घटनाओं की प्रगति का क्रम इस प्रकार होता है—

आरम्भ→विरोध→चरम सीमा→निर्गति→समाप्ति।

आरंभ नायक की ओर से होता है, विरोध प्रतिनायक की ओर से। दोनों पक्ष प्रबल होते हैं। अतः विजय किसकी होगी, नहीं कहा जा सकता। द्वन्द्व होता है। चरम सीमा की अवस्था में संघर्ष अत्यन्त प्रबल होता है—दर्शकों का कौतूहल और उत्कृष्ट चरमोत्कर्ष पर होती है। समस्याएँ इतनी उलझी होती हैं कि अन्त में किस पक्ष की विजय होगी, कहना आसान नहीं होता। 'निर्गति' में समस्याएँ धीरे-धीरे या त्वरा के साथ

सुलभ जाती हैं और फिर नाटक की समाप्ति हो जाती है, फलागम अनिवार्य रूप से नहीं होता। नायक सफल भी हो सकता है, विफल भी। नाटक सुखान्त भी हो सकता है, दुःखान्त भी।

इसके मूल में यूरोप का वस्तुवाद या यथार्थवाद है। जीवन जैसा है, उसी प्रकार साहित्य में उसे उपस्थित करने का आग्रह होता है, चाहे उसका परिणाम जो भी हो। क्योंकि साहित्य एक कला है जिसका प्रथम उद्देश्य उपदेश देना नहीं है वरन् जीवन के सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति है।

चरित्रचित्रण—आधुनिक नाटकों में चरित्रचित्रण ही प्रधान होता है। घटनाएँ चरित्रों की व्याख्या के लिये नियोजित होती हैं।

नाटकों के पात्र सभी प्रकार के हो सकते हैं—जीवन जैसी ही विविधता नाटकों में इस दृष्टि से भी अर्पेक्षित है। नायक भी कोई विख्यात पुरुष हो, यह आवश्यक नहीं। कोई भी व्यक्ति जिसमें घटनाओं के नियमन और संचालन की क्षमता है नाटक का नायक हो सकता है। भारतीय दृष्टि से नाटक का नायक अंतिम नाटकीय फल का भोक्ता होता है। पर पाश्चात्य दृष्टि से नायक के लिये अन्तिम फल की प्राप्ति तो अनिवार्य है नहीं, अतः नायक वही होता है जो घटनासूत्र का प्रमुख संचालक होता है अथवा कलाकार का प्रधान संदेश-वाहक होता है। नायक की पत्नी या प्रेमिका नायिका हो

यह भी आवश्यक नहीं। नायिका वही होगी जो घटनाविकास अथवा नाटक के कलात्मक उद्देश्य की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्त्री-पात्र है।

नाटक में लेखक सदैव नेपथ्य में रहता है। अपने शब्दों में पात्रों की चरित्रगत आलोचना करने का अवसर उसे प्रायः नहीं मिलता है। अतएव चरित्र-चित्रण का प्रधान साधन उसके लिये कथोपकथन या पात्रों का परस्पर वार्त्तालाप ही है। इसीसे इस प्रकार के चरित्र-चित्रण को अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण कहते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं घटनाओं या संकेतों द्वारा चारित्रिक विशेषताओं को व्यंजित किया जाता है।

आधुनिक नाटकों के चरित्रों का विकास प्रायः मनोविज्ञान के आलोक में होता है। मन को चेतन, अचेतन और अचेतन वृत्तियों का विश्लेषण आज के चरित्र-चित्रण की एक विशेषता कही जा सकती है।

चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—या तो वे विशिष्ट वर्गों के प्रतिनिधि तथा सिद्धान्तों-आदर्शों के प्रतीक जैसे हों, या फिर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और वैयक्तिक विचित्रता रखने वाले हों। दूसरे प्रकार के चरित्रों का गठन अधिक कलापूर्ण समझा जाता है।

कथोपकथन—वार्त्तालाप ही तो नाटक की जान है। यही चरित्रों की व्याख्या या विश्लेषण का प्रधान साधन है।

कथनोपकथन की सफलता ही प्रायः नाटक की सफलता है । घटनाओं की सूचना भी अधिकांशतः कथनोपकथन द्वारा ही मिलती है ।

कथनोपकथन अत्यन्त आकर्षक, संयत, चमत्कारपूर्ण, अभिनयात्मक, स्वाभाविक और सोद्देश्य होने चाहिये ।

कथनोपकथन का उद्देश्य या तो पात्रों का चरित्रचित्रण हो या किसी अभीष्ट मंतव्य की व्यञ्जना या घटना-विकास । निरुद्देश्य संवाद या असंयत, असंबद्ध वार्त्तालाप नाटक के कलात्मक प्रभावैक्य को नष्ट कर देनेवाले होते हैं ।

कथनोपकथन पात्रोचित होना चाहिये । पात्रों की शिक्षा-दीक्षा, स्वभाव-संस्कार आदि के अनुपात में ही उनके वार्त्तालाप की योजना अपेक्षित है । वार्त्तालाप ऐसा होना चाहिये जिसमें बोलनेवाले का व्यक्तित्व-वैचित्र्य साफ झलक जाय । स्वाभाविकता की रक्षा आधुनिक कला में सर्वत्र प्रयोजनीय है, स्वगत-कथन की अस्वाभाविकता भी आधुनिक नाटकों में बर्दाश्त नहीं की जाती ।

देश-काल—आधुनिक नाटक की रचना में देश और काल का ध्यान रखना आवश्यक है । जिस देश और जिस काल की कथावस्तु है, उस देश और काल की सभ्यता, संस्कृति, परम्परा आदि के विपरीत किसी बात का चित्रण नहीं होना चाहिये । जिन नाटकों में घटनाक्षेत्र भारतवर्ष है, उसमें चीनी या जापानी वातावरण उपस्थित कर देना अस्वाभाविक ही नहीं होगा,

कलागत सच्चार्ई का घातक भी होगा। प्राचीन भारतीय कथावस्तु में आधुनिक योरोपीय दृश्यों अथवा परिस्थितियों का समावेश असंगत होगा। ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल की स्वाभाविकता का ध्यान रखना और भी जरूरी है। मौर्य काल के चरित्र यदि सूट या काबुली चप्पल पहन कर रंगमंच पर उपस्थित हों, राजा विक्रमादित्य की सभा में हुक्का रख दिया जाय, महाराज दशरथ को रथ के बजाय तौंगे पर बैठा दिया जाय तो यह इतिहास की हत्या कही जायगी। प्रत्येक प्रबुद्ध कलाकार को इससे बचना चाहिये।

देश-काल के अनुकूल वातावरण के निर्माण के लिये जहाँ उपयुक्त दृश्य-योजना का सहारा लिया जाता है, वहाँ भाषा की विशिष्ट प्रकृति से भी काम लिया जाता है। प्राचीन कथावस्तु को लेकर चलनेवाले नाटक की भाषा कुछ प्राचीनता जिये तथा आधुनिक जीवन से सम्बद्ध नाटक की भाषा प्रचलित मुहावरों और प्रयोगों से समन्वित हो तो अच्छा।

दृष्टिकोण—प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार का जीवन और जगत् के प्रति अपना विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। नाटक के अध्ययन-आलोचन में हमें इस दृष्टिकोण की छानबीन करने की आवश्यकता रहती है। नाटककार आदर्शवाद को लेकर चलता है या यथार्थवाद को—वह हमारे सामने चरित्रों और घटनाओं की योजना द्वारा किसी विशिष्ट आदर्श की व्यञ्जना या सन्देश

का प्रेषण करना चाहता है या मात्र जीवन के सत्य की खोज और उसकी निरुद्देश्य व्यंजना—यह ध्यातव्य है । इसके अतिरिक्त, कलाकार व्यक्तिवादी है या समष्टिवादी, यह भी देखना चाहिये । यदि वह समाज की अपेक्षा व्यक्ति को महत्व देता है तो क्या उसकी प्रवृत्ति समाजवाह्य चित्रण की ओर है ? क्या वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक मर्यादा का सामञ्जस्य कर पाया है ? ये प्रश्न महत्व के हैं ।

सन्देश—प्रायः प्रत्येक नाटक का एक कलात्मक उद्देश्य होता है । कलाकार जीवन के जिस चरम सत्य का साक्षात् करता है, उसकी व्यंजना के लिये ही वह अनेक पात्रों और घटनाओं का सहारा लेता है । यह चरम सन्देश, कलाकार का यह सम्पूर्ण स्वप्न समाप्त नाटक के अवयवों में अन्तर्व्याप्त रहता है । पात्रों, घटनाओं, कथनोक्तयन, दृश्यों आदि की योजना इसी चरम सन्देश के आलोक में होनी चाहिये । ऐसी एक घटना, एक पात्र भी न हो जो इस अन्तिम गन्तव्य तक ले चलने में कुछ भी सहायता न दे ।

कुछ भारतीय नाटककार अपने सन्देश को खुले रूप में उपस्थित करते हैं । पर पाश्चात्य नाटकों में यह सन्देश व्यञ्जित रहता है—नाटक के सम्पूर्ण प्रभाव में निहित रहता है ।

रंगमंच—पाश्चात्य नाटकों में रंगमंच का ध्यान रखना आवश्यक समझा जाता है । नाटक के पात्र, पात्रों की संख्या,

दृश्य-विधान, कथनोपकथन, भाषा आदि अवयव ऐसे हों कि नाटक आसानी से रंगमंच पर उपस्थित किया जा सके ।

रंगमंच की दृष्टि नाटक की सफलता के लिये आवश्यक यह है कि उसमें पात्रों की बहुत अधिक भीड़ न हो तथा एक साथ उतने ही पात्र रंगमंच पर उपस्थित किये जायँ जितना रंगमंच को देखते हुए स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो । नाटक में पात्रों की बहुत अधिक संख्या होने से एक तो पात्रों के चरित्रचित्रण के लिये पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता, दूसरे, उतने अधिक पात्रों के लिये योग्य आदमी जुटना भी कभी-कभी मुश्किल हो जाता है ।

दृश्य कष्टसाध्य नहीं होने चाहिये । दृश्य ऐसे हों जो आसानी से रंगमंच पर उपस्थित किये जा सकें । दृश्यों का क्रम भी ऐसा हो जिसमें कि दृश्यों के प्रबन्ध के लिये प्रत्येक बार दर्शकों को बैठाकर इन्तजार नहीं कराना पड़े ।

लम्बे, भावात्मक कथनोपकथन रंगमंच की दृष्टि से अस्वाभाविक होते हैं । कथनोपकथन में अभिनयात्मक त्वरा या चमत्कार होना चाहिये जिससे दर्शकों का कौतूहल और आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता जाय ।

भाषा सजीव, प्रवाहपूर्ण और रोचक हो । साथ ही वह सहज बोधगम्य हो जिसमें दर्शकों को अर्थ-बोध में विलम्ब न हो ।

आज के नाटकों में कलाकार निर्देशक की बुद्धि पर भरोसा न कर अपनी ओर से लंबे दृश्य-संकेत दे देता है जिससे दृश्यों की योजना स्वाभाविक और प्रसंगोपयुक्त हो ।

नाटक की आलोचना में इन तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिये ।



निबन्ध

निबन्ध और प्रबन्ध—

निबन्ध और प्रबन्ध में अन्तर है, विषय सम्बन्धी भी, शैली सम्बन्धी भी । निबन्ध में भावतत्त्व या रागवृत्ति को पर्याप्त स्थान मिलता है, प्रबन्ध में बुद्धितत्त्व या बोधवृत्ति को । निबन्ध-लेखक अपने व्यक्तित्व को कम या अधिक अंशों में वर्य विषय के साथ मिला देता है, प्रबन्धलेखक स्वयं तटस्थ रहकर विषय का वैज्ञानिक और आत्मनिरपेक्ष विवेचन करता है । निबन्ध में वर्य-विषय के सौन्दर्य या उससे उत्पन्न भावात्मक प्रतिक्रियाओं के चित्रण का स्थान है, प्रबन्ध में वर्य-विषय का यथातथ्य विश्लेषण या विवेचन अभीष्ट रहता है । निबन्ध साहित्यिक रचनास्वरूप है, प्रबन्ध वैज्ञानिक सिद्धांतों या तथ्यों का आलेखन । प्रबन्ध में तर्क, शृंखलाबद्ध चिन्तन और सावर्भाम परिणामों या निष्कर्षों की स्थापना का उद्योग होता है, निबन्ध में जीवन के वैयक्तिक सत्य और सौंदर्य को मंगलकारी अभिव्यञ्जना होती है । भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का विवेचन प्रबन्ध है, ताजमहल या उषा के सौंदर्य की प्रशस्ति निबन्ध । गद्य के साहित्यिक रूपों में निबन्ध सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है । शुक्ल जी

के अनुसार यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है ।

संस्कृत की निबन्ध-शैली —

संस्कृत में अत्यन्त प्राचीन काल से एक प्रकार के निबन्ध की रचना तथ्यविवेचन या सिद्धान्त प्रतिपादन के उद्देश्य से होती रही है । पर वह निबन्ध आज के साहित्यिक निबन्ध से नितान्त भिन्न है । निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है बँधा हुआ । प्राचीन विद्वान् अपने विचारों को लेखरूप में बाँध दिया करते थे और उसे निबन्ध कहते थे । तुलसीदास ने भी शायद इसी व्यापक अर्थ में रामचरितमानस को 'भाषा निबन्ध' कहा । धीरे-धीरे निबन्ध का अर्थ एक विशिष्ट साहित्य-विधान के रूप में रुढ़ हो गया । आज हम संस्कृत में निबन्ध कही जानेवाली शास्त्रीय या सैद्धान्तिक रचनाओं को प्रबन्ध कहते हैं और निबन्ध को उससे भिन्न, एक वैयक्तिक रचना-विधान मानते हैं ।

हिन्दी में निबन्ध का अर्थ —

हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द अंग्रेजी के 'एसे' Essay शब्द का पर्यायवाची बन गया है । 'एसे' शब्द का अर्थ है, प्रयत्न या प्रयास । इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करनेवाला फ्रांस का सुप्रसिद्ध निबन्धकार मोंटेन (Montaigne) हैं । उसने 'एसे' शब्द का व्यवहार उस साहित्य-स्वरूप के लिये किया जिसके अन्तर्गत वैयक्तिक भावों की सौंदर्य-

पूर्ण, कलात्मक अभिव्यक्ति होती थी। मौनटेन ने जो निबन्ध लिखे उनसे एक नई रचना-प्रणाली की उत्पत्ति हुई। मौनटेन के निबन्धों में किसी विषय को लेकर उसपर अत्यन्त स्वच्छन्द ढंग से वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति की जाती थी। हिन्दी में भी “निबन्ध” शब्द इसी प्रकार की रचना का द्योतक है।

निबन्ध की विशेषताएँ—

मौनटेन-शैली के निबन्धों में व्यक्तिगत रसि, भावुकता, कल्पना और अनुभूति को वाणी मिलती है। उनमें व्यक्ति-सत्य या भाव-सत्य मुखरित होता है, वस्तु-सत्य नहीं। अपनी रचनाओं के विषय में मौनटेन का कथन है—
 “यह मेरी अपनी भावनाएँ हैं; इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने आपको पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।” * प्रसिद्ध निबन्धकार डॉ॰ जानसन निबन्ध को मन की एक विशृङ्खला विचार-तरंग मानता था—An essay is a loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly performance.

संक्षेप में निबन्ध की विशेषताओं को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

* “साहित्य विवेचन” ज्येष्ठचन्द्रमुमन; योगेन्द्रकुमार मल्लिक।

- (१) निबन्ध में कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना होती है। उसमें भावना और कल्पना का पूर्ण समावेश अपेक्षित है।
- (२) निबन्ध में लेखक के भावों एवं विचारों की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं। उसमें एक प्रकार की विशृङ्खलता होती है। निबन्ध का विषय तो आत्मा-भिव्यक्ति का साधनमात्र है। उस विषय का यथातथ्य प्रकाशन अभीष्ट नहीं। अतएव निबन्धकार सुशृङ्खल ढंग से विषय के सभी पहलुओं के क्रमबद्ध विवेचन का उद्योग नहीं करता वरन् वर्य विषय से साहचर्य-शक्ति के आधार पर उद्भूत भाव-तरंगों का विशृङ्खल अभिव्यञ्जन करता है। जगह-जगह विषयान्तर वैयक्तिक निबन्ध की एक प्रमुख विशेषता है।
- (३) निबन्ध के वातावरण में एक हल्कापन होता है। खण्डन-मण्डन या सिद्धान्त-प्रतिपादन का बोझिल वातावरण उसमें नहीं होता। लेखक विषयों पर हल्के ढंग से, मनोरञ्जक शैली में विचार करता है। पढ़े-लिखे चार मित्र सिगरेट का कश खोंचते हुए आराम कुर्सी पर बैठकर जब बातचीत करने लगते हैं तो जैसा वातावरण उपस्थित हो जाता है, कुछ वैसा ही वातावरण निबन्ध का हुआ करता है। इसीलिये तो विषयविवेचन में शृङ्खला का अभाव होता है।

(४) निबन्ध में लेखक की व्यापक सहानुभूति के दर्शन होते हैं। वह पाठक को आत्मीयता के सूत्र में बाँधकर उससे बातें करता है। इस सहृदयतापूर्ण आत्मीयता के कारण निबन्ध का पाठक लेखक के बहुत समीप हो उसके व्यक्तित्व का प्रभाव ग्रहण करता है।

(५) निबन्धकार की शैली में मनोरञ्जन का तत्त्व होना चाहिये। उसमें हास्य और व्यंग्य का पुट होना अच्छा है। उससे वातावरण में हल्कापन आता है और पाठकों के मन पर विचारों का अनुचित दबाव नहीं पड़ता। हास्य, विनोद और व्यंग्य से पूर्ण निबन्ध से पाठकों का जी नहीं उबने पाता, चाहे वर्य विषय कितना भी गम्भीर क्यों न हो।

निबन्ध के विविध प्रकार—

वर्णन, विचार, भाव, कल्पना, वैयक्तिकता आदि तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता के कारण निबन्ध के कई भेद किये जा सकते हैं—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध में वर्णन की प्रधानता होती है। लेखक दृश्यों या घटनाओं का मनोरञ्जक और आत्मनिष्ठ वर्णन प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत विषय के वर्णन के साथ-साथ उसपर अपने व्यक्तिगत विचार भी लेखक व्यक्त कर सकता है।

(२) विचारात्मक निबन्ध में वर्णन आदि की अपेक्षा

विचारों की प्रधानता होती है। किसी सूक्ष्म विषय के विविध पहलुओं पर मनोरञ्जक या आकर्षक ढङ्ग से विचार कर नवीन तथ्यों की उपलब्धि का प्रयास करना विचारात्मक निबन्धकार का अभीष्ट होता है। क्रोध, ममता, उत्साह आदि मनोभावों पर लिखे गये मनोवैज्ञानिक निबन्ध अथवा राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार, देशोद्धार सम्बन्धी सामाजिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध इसके उदाहरण हैं।

(३) भावात्मक निबन्ध में भावना और अनुभूति की प्रधानता होती है। लेखक रस-सृष्टि अथवा कम-से-कम भाव-संचार का प्रयास करता हुआ वर्य विषय के विविध पहलुओं का उद्घाटन करता है। लेखक की शैली में आवेश की तन्मयता होती है और उसकी भाषा में काव्योचित रंगीनी होती है।

(४) कल्पनात्मक निबन्धों में कल्पना की उड़ान तथा भाषा की मूर्तिविधायिका शक्ति का चमत्कार देखने को मिलता है।

(५) वैयक्तिक निबन्ध में व्यक्तित्व का प्रकाशन प्रधान रहता है, विषय का उद्घाटन गौण। विषय वह खूँटी है जिसपर आग अपना कोट टाँग देते हैं। कोट प्रधान है, खूँटी गौण। विषय एक सहारा मात्र है; प्रधान वर्य है लेखक का 'अहं', उसका अभिव्यञ्जनाकुल व्यक्तित्व ! वह अपना दृष्टिकोण बतलाता है, अपनी रुचि का परिचय देता है,

अपनी अनुभूति को वाणी प्रदान करता है। वह यथार्थ या वस्तुसत्य की स्थापना नहीं करता, अपनी दृष्टि से सत्य का रूप बतलाता हुआ चलता है।

शैली भी उसकी स्वच्छन्द होती है। अपनी रुचि से वह प्रधान वर्य विषय से सम्बद्ध अन्य विषयों के क्षेत्र में घूमता-फिरता, विविध प्रसंगों का स्वाद लेता फिर प्रधान विषय की ओर लौट आता है। अतः वैयक्तिक निबन्ध का विषय कुछ भी हो सकता है। निबन्ध का उत्कर्ष विषय के महत्त्व पर निर्भर नहीं, लेखक के व्यक्तित्व की महत्ता पर आधारित है। 'सिगरेट के डिब्बे' पर निबन्ध लिखकर लेखक सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति की व्यञ्जना कर सकता है; दुपहरिया के फूल को वर्य बनाकर लेखक अनन्त, विश्वजनीन, विराट् चिर-सुन्दर की भाँकी दिखा सकता है। असली चीज है, उसकी अपनी अनुभूति की गहराई। इसलिये, वैयक्तिक निबन्ध लिखना सभी के लिये सम्भव नहीं। इसके लिये संवेदनशील, परिष्कृत और सजीव व्यक्तित्व चाहिये—व्यक्तित्व, जो सहज ही वर्य वस्तु को आत्मसात् कर उसे कला-सौंदर्य से आलोकित कर दे सके।

आजकल हमें पत्र-पत्रिकाओं में और संग्रहरूप में पुस्तकाकार प्रकाशित 'आलोचनात्मक निबन्धों' के दर्शन होते हैं। आलोचना रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जानी चाहिये, क्योंकि आलोचना का अर्थ है, निर्णय, मूल्यांकन,

व्याख्या या विश्लेषण करना । इन कार्यों के लिये जैसी तटस्थता, शास्त्रीयता अथवा वैज्ञानिकता चाहिये, वह निबन्ध की सीमा के बाहर की वस्तु है । निबन्ध आत्मनिष्ठ रचना है । आलोचना में आलोचक निष्पक्ष होकर तथ्यनिरूपण या गुणदोष-विवेचन करता है । निष्पक्षता आलोचक के लिये गुण है, निबन्धकार के लिये वह अप्रासंगिक है । इसलिये आलोचना 'प्रबन्ध' है, निबन्ध नहीं । 'आलोचनात्मक निबन्ध' का अर्थ यह होगा कि कोई अमुक कृति न तो सफल आलोचना है, न सफल निबन्ध । शिथिल विचार तरंगों की वैयक्तिकता आलोचना में स्थान नहीं पा सकती ।

निबन्ध में पाण्डित्य वर्जित नहीं । विद्वान् यदि वैयक्तिक निबन्ध लिखेगा तो उसके व्यक्तित्व में रसरूप से संचित उसका पाण्डित्य उसकी रचना में प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रहेगा । पर यह पाण्डित्य सहृदयता से समन्वित होगा । क्योंकि, निबन्ध में हृदयपक्ष की उपेक्षा नहीं हो सकती ।

गद्यगीत

गद्यगीत साहित्य का अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपविधान है। गद्य के सहज प्रवाह तथा गीत की अतिशय आत्मनिष्ठता का मधुर संयोग इसमें अपेक्षित है। इसे हम प्रगीत मुक्तक का गद्य-संस्करण भी कह सकते हैं। जैसे, प्रगीत मुक्तक में अतिशय आत्मनिष्ठता या उद्दाम वैयक्तिकता तथा भावना का अतिरेक अपेक्षित है, उसी प्रकार गद्यगीत में भी। गीतिकाव्य या प्रगीतमुक्तक की ही तरह गद्यगीत भी संक्षिप्त रचना होता है, क्योंकि भावना के चरम शिखर पर बहुत देर तक स्थित होकर लम्बा प्रबन्ध लिखना किसी भी भावुक के लिये सहज सम्भव नहीं। गीतिकाव्य और गद्यगीत में एक ही अन्तर होता है—छन्दविधान को लेकर। गीतिकाव्य में छन्द-प्रवाह के साथ संगीत-लय का मधुर संचार अपेक्षित होता है पर गद्यगीत में छन्द-बन्धन से रचयिता नितान्त मुक्त रहता है, क्योंकि वह गद्य में लिख रहा है। फिर भी कविता के विविध तत्त्व, जैसे कल्पना, भावना, अनुभूति, चित्रमयी अथवा मूर्तिविधायिनी भाषा आदि का पूर्ण सहयोग उसमें रहता ही है। प्रेमचन्द जी का कथन है—“गद्यगीत स्वतन्त्र वस्तु है और कवि जो कुछ पद्यों में नहीं कह पाता, वह गद्यगीतों

में कहता है। कविता भावना-प्रधान रचना है, और गद्यगीत अनुभूति-प्रधान ।’

प्रेमचन्द जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि कविता भावना-प्रधान है और गद्यगीत अनुभव-प्रधान, क्योंकि कविता और गद्यगीत दोनों में केवल भावना या केवल अनुभूति हम पा सकते हैं। दोनों स्वरूप-विधानों का अन्तर भावना-अनुभूति के भेद पर निर्भर नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति के माध्यम या शैली पर आधारित है। गद्यगीत की शैली गद्यशैली है, छन्द-विधान का उसमें अभाव है, कविता के लिये छन्दयोजना अनिवार्य है। यही भेद है। नहीं तो कविता का वह रूप जिसे गीतिकाव्य या प्रगीतमुक्तक कहते हैं, गद्यगीत के सर्वथा समकक्ष है। प्रगीतमुक्तक की समस्त विशेषताएँ गद्यगीत में उपलब्ध हैं—केवल छन्द के अभाव में संगीतात्मकता नहीं है। क्योंकि गद्यगीत में—

- (१) आत्मनिष्ठता या वैयक्तिकता रहती है,
- (२) भावना का चरम उत्कर्ष रहता है,
- (३) एक रचना में एक ही व्यापक भाव, या भाव का ऐक्य रहता है, और,
- (४) वह संचिप्त होता है।

हाँ, यह कह सकते हैं कि कवि जो पद्यों में नहीं कह पाता, वह गद्यगीतों में कहता है।

अक्सर देखा जाता है कि भावना बहुत तीव्र हो जाती है तो अभिव्यक्ति अव्यवस्थित हो जाती है, भाषा जवाब देने लग जाती है। ऐसी अवस्था में छन्द के नियमों का पालन कर सकना क्या सहज सम्भव है ? अत्यन्त भावावेश में, इसी-लिए छन्द-शृंखला अपने आप टूट जाती है। कविता विलीन हो जाती है और गद्यगीत आकार ग्रहण कर लेता है। अतएव गद्यगीत कविता से भी अधिक निगूढ़ अनुभूति, मार्मिक भावना और सूक्ष्म कल्पना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकता है।

गद्यगीत में छन्द तो नहीं होता पर भाषा का ऐसा नाद-मंजुल रूप उपस्थित किया जा सकता है कि उसके लय-प्रवाह में छन्द से भी अधिक तन्मय बनाने की क्षमता उत्पन्न हो जाय।

गद्यगीत के प्राचीन और नवीन उदाहरण—

लौकिक साहित्य में गद्यगीत एक नई चीज है। पर, वेदों उपनिषदों में इसका स्वरूप देखने को मिलता है।

षुहादारण्यक उपनिषद् का निम्नोद्धृत अंश गद्यगीत का सुन्दर उदाहरण है—

स वा अयमात्मा

सर्वेषां भूतानामधिपतिः

सर्वेषां भूतानां राजा,

तद्यथा रथानामौ च रथनेमौ चारः सर्वे समर्पिता

एवमेवास्मिन्नात्मनि

सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः

सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः

सर्वे आत्मानः समर्पिताः ।

अर्थात् वह आत्मा समस्त भूतों का स्वामी है, समस्त भूतों का राजा है, जिस प्रकार रथनेमि और रथनाह में समस्त आरे निबद्ध रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में सब जीव, सब देव, सब लोक एवं सब प्राण आदि आत्माएँ समर्पित हैं ।

ब्राह्मण ग्रन्थों तथा छान्दोग्य उपनिषद् आदि में भी ऐसे स्थल प्राप्य ह । पर लौकिक साहित्य में वाणभट्ट और दण्डी के उपन्यासों के कतिपय स्थलों को छोड़कर अथवा स्वतन्त्र रूप से, गद्यगीत का स्वरूप विरल है ।

पाश्चात्य साहित्य में बाइबिल के कतिपय अंशों में गद्यगीत के प्रारम्भिक रूप की झोंकी मिलती है । वाल्ट्स्मैथ, वाल्ट-रेपटर और एडवर्ड कार्पेण्टर अँगरेजी के श्रेष्ठ गद्यगीतकार हैं ।

आधुनिक भारत में गद्यगीत के प्रवर्त्तन का श्रेय रवीन्द्र की गीताञ्जलि को है । हिन्दी में रायकृष्णदास (साधना, प्रवाल), वियोगी हरि (साहित्यविहार, प्रेमयोग, भावना), चतुरसेन शास्त्री (अन्तस्तल), दिनेशनन्दिनी चोरङ्ग्या । अब डाल-मियाँ] (शबनम, मौक्तिक माल, शारदीया, दुपहरिया के फूल, उनमन, स्पन्दन, सारंग , अज्ञेय (भग्नदूत, चिन्ता), सियारामशरण और डा० रघुवीर सिंह प्रसिद्ध गद्यगीत लेखक हैं ।

शब्दचित्र

एक आधुनिक साहित्य-विधान—

शब्दचित्र, रेखाचित्र या स्केच एक अत्यन्त आधुनिक साहित्यविधान है। इसकी उत्पत्ति वर्त्तमान कर्म-व्यस्त जीवन से हुई है। आज के यन्त्रयुग के मनुष्य का जीवन द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। प्राचीन सहज मन्थरता का स्थान वेगपूर्ण गति ने ले लिया है। जीवन में अब इतना अवकाश नहीं कि मनुष्य आसपास की दुनिया की प्रत्येक वस्तु की विस्तृत जानकारी प्राप्त करे। और मनुष्य की दुनिया भी—रेल, तार, मुद्रण, यन्त्र, रेडियो आदि आविष्कारों के फलस्वरूप—इतनी बड़ी हो गई है, उसमें इतने अधिक पहलुओं, समस्याओं, चरित्रों आदि का समावेश हो गया है कि जीवन से संबद्ध सभी वस्तुओं या चरित्रों की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर लेना अपने छोटे से जीवन में मनुष्य के लिये सहज संभव नहीं रहा। आवश्यक हो गया है कि वह संक्षेप में वस्तुओं और व्यक्तियों की पूरी जानकारी प्राप्त कर लिया करे—उनके सारभूत अन्तरतम रहस्य को समझ ले। संक्षेप में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना, कम-से-कम समय

में काम की चीज पा लेना, यही युग की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता के फलस्वरूप शब्दचित्र की उत्पत्ति हुई। महाकाव्य, खण्डकाव्य, उपन्यास, नाटक जैसे साहित्य के बड़े आकार वाले स्वरूप-विधानों के अतिरिक्त कहानी, एकांकी नाटक, आदि छोटे स्वरूपविधानों से भी इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती थी। सर्वथा अल्प समय में जीवन या जगत् के किसी विशिष्ट पहलू के सारभूत सत्य की भाँकी पा लेना इनके द्वारा भी उस सीमा तक संभव नहीं था जहाँ तक शब्दचित्र द्वारा हुआ।

शब्दचित्र की विशेषताएँ—

शब्दचित्र के लिये रेखाचित्र और स्केच शब्दों का प्रयोग भी होता है। 'रेखाचित्र' और 'स्केच' शब्द दोहरे अर्थ रखते हैं। विशिष्ट साहित्यिक स्वरूप-विधान का द्योतन तो इनसे होता ही है, चित्रकला के एक विशेष प्रकार का बोध भी ये शब्द कराते हैं। रेखाचित्र या स्केच एक ऐसा चित्र है जिसमें वर्ण्य की वस्तु की प्रधान विशेषताओं को कुछ विशिष्ट रेखाओं द्वारा समतल से उभार कर दिखलाया जाता है जिसमें वे विशेषताएँ दर्शक के समक्ष अधिक सजीव और वास्तविक रूप में प्रकट हो जायँ। चित्रकला के अन्तर्गत रेखाचित्र (अथवा स्केच) तथा साहित्यिक शब्दचित्र, रेखाचित्र या स्केच के रचनाविधान या टेकनीक में समानता

है। दोनों का उद्देश्य है वस्तुस्थिति को अधिक स्पष्ट और सुखरूप में साकार करना—वर्ण्य विषय की प्रधान विशेषताओं अथवा सारभूत सत्य को अधोरेखांकित कर देना, जिसमें उसके क्षणिक साक्षात् का प्रभाव भी यथेष्ट गहराई तक पड़े। दोनों की रचना-प्रक्रिया एक-सी है—वर्ण्य वस्तु को पारिपार्श्विक जगत् से अलग कर उसकी वास्तविकता पर तीव्र प्रकाश डालना जिसमें उसकी प्रधान रेखाएँ उभर जायँ और उसका पाठक या दर्शक की अनुभूति पर तीव्र और गहरा प्रभाव पड़े। दोनों में अन्तर है केवल अभिव्यक्ति के माध्यम का। चित्रकला में रंग-रेखाओं के सहारे वर्ण्य को साकार किया जाता है, साहित्यिक शब्दचित्र में अर्थपूर्ण शब्दों के सहारे। मेरा विचार है कि इस साहित्यिक विधान के लिये हम 'रेखाचित्र' या 'स्केच' शब्द का प्रयोग न कर 'शब्द चित्र' शब्द का ही प्रयोग करें तो अच्छा हो, क्योंकि तब रेखाचित्र चित्रकला के विधान-विशेष के लिये सुरक्षित रहेगा और उसके दोहरे अर्थ से भ्रम उत्पन्न होने के लिये अवकाश नहीं रहेगा।

शब्दचित्र के संबन्ध में कुछ विद्वानों के विचार ध्यातव्य हैं। शब्दचित्रकार के संबन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का कथन है—“वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँख खोलकर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन-संप्राम में

जूमने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है।” श्री क्षेमचन्द्र ‘सुमन’ और श्री योगेन्द्र कुमार मल्लिक लिखते हैं—“नये युग के कलाकार ने अपनी अनुभूतियों को कम-से-कम समय और कम-से-कम शब्दों में प्रकट करने के लिये ही रेखाचित्र का माध्यम अपनाया।”† श्री शिवदान सिंह चौहान का कथन है—“साहित्य में रेखाचित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने पारिपार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अङ्ग को—पशु-पक्षी, वृक्ष, इमारत, खण्डहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु को—एक चित्रकार के समान अंकित करता है, वास्तविकता के उस अंग को कल्पनासात् कर उसकी वास्तविकता को संक्षेपण और पुनर्संगठन द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतल से उभार करके अपनी भाव-प्रक्रिया से उसके प्रभावों को अतिरञ्जित कर देता है। चित्रकार के चित्र में जिस प्रकार वास्तविकता की संक्षेपित अतिरञ्जित अतिव्यक्ति केवल देखने का आनन्द ही नहीं प्रदान करती, वरन् भाव भी जागरित करती

❀ विशाल भारत— जुलाई १९३७

† साहित्य विवेचन, पृ० ३०२

है, वास्तविकता पर हमारी पकड़ मजबूत करती है, हमें उसे ग्रहण करने में सहायक होती है, उसी प्रकार रेखाचित्र पढ़कर किसी वस्तु का चित्र ही हमारे सामने नहीं खिंच जाता, बल्कि अभिव्यक्ति और चित्रण के पीछे अनासक्ति भाव का उपक्रम किये छिपी लेखक की सहानुभूति से भी अप्रत्यक्ष रूप से पाठक प्रभावित होता है, वास्तविकता के उस टुकड़े को उसके विराट् संदर्भ से हटाकर जैसे खुर्दबीन से देखकर वह उसे पूरी तौर पर जान लेता है और उसके सम्पूर्ण स्वरूप (whole) से उसके आन्तरिक सम्बन्धों को पहचान लेता है ।.... उसकी विशेषता इसी में निहित है कि वह विशेष ढंग से आधुनिक वास्तविकता का चित्रण करता है, अर्थात् वास्तविकता के किसी अंग को अलग (isolate) करके वह संक्षेपण और अतिरञ्जन द्वारा उसकी बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता कुरूपता की रेखाओं को उभार देता है ताकि पाठक उसे सन्निकट से देखी वस्तु की तरह शीघ्र अपने अनुभव और चेतना में ग्रहण कर ले ।” ❀ इन विचारों से शब्दचित्र का वास्तविक स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो गया होगा ।

शब्दचित्र की विशेषता है कि उसकी वर्ण्य-वस्तु का संगठन चित्रकला की तरह देश (Space) में होता है, काल में नहीं । वह एक क्षण की तस्वीर है, बदलते हुए क्षणों का शृंखलाबद्ध चलचित्र उसमें नहीं । अतएव उसमें एक ही दृश्य, एक ही घटना, एक ही परिस्थिति का समावेश हो सकता है । प्रबन्ध

काव्य, नाटक या उपन्यास की तरह घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों की विविधता एवं अनेकरूपता उसमें सम्भव नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि शब्दचित्र में गत्यात्मकता का नितान्त अभाव रहता है और वर्य वस्तु की तस्वीर सर्वथा स्थिर या अचल होती है। गति होती है, पर वह गति एक अवसर पर एक व्यक्ति के व्यापारों की गति होती है। अनेक अवसरों और व्यक्तियों की क्रमिक शृंखला का—घटना या व्यापार शृंखला का उसमें अभाव रहता है। अतः घटना-विकास का सवाल नहीं उठता। शब्दचित्रकार परिस्थिति की पीठिका का निर्माण कर तत्काल वर्य विषय को उपस्थित कर अपना चित्रण समाप्त कर दे सकता है।

हिन्दी के शब्दचित्रकार—

सर्वप्रथम शब्दचित्र लिखनेवालों में श्री पद्मसिंह शर्मा का नाम लिया जा सकता है। उनकी पुस्तक 'पद्म पराग' में कुछ शब्दचित्र संगृहीत हैं। उनके बाद श्रीराम शर्मा ने अच्छे शब्दचित्र लिखे। उनका संग्रह है—'बोलती प्रतिमा'। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी कुछ शब्दचित्र लिखे हैं। 'हंस' के 'रेखाचित्रांक' ने भी शब्दचित्र कला को कम प्रोत्साहन नहीं दिया है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'पुरानी स्मृतियाँ और नए स्केच' तथा 'रेखाचित्र' इन दो पुस्तकों में शब्दचित्र के सफल उदाहरण मिलते हैं। निरालाजी के 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'चतुरी चमार' में भी शब्दचित्र के

तत्त्व वर्त्तमान हैं । श्रीमती महादेवी वर्मा की पुस्तकें 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' तथा श्री रामवृत्त बेनीपुरी के शब्दचित्रों का संग्रह 'माटी की मूर्तें' शब्दचित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं । श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के शब्दचित्रों का संग्रह 'भूले हुए चेहरे' भी उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री प्रभाकर माचवे, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री उपेन्द्र नाथ अशक, श्री महावीर अधिकारी प्रभृति कलाकार इस दिशा में प्रयत्नशील हैं । श्री तारकेश्वर भारती के संग्रह 'अञ्जलि' में भी कुछ अच्छे शब्दचित्र हैं ।

पंत, निराला, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि कुछ कवियों ने पद्य में भी इस नवीन स्वरूपविधान को आजमाया है और कहीं-कहीं सफल भी हुए हैं । शब्दचित्रण-कला का भविष्य उज्ज्वल है ।

रिपोर्टाज

रिपोर्टाज साहित्य का सर्वथा नवीन स्वरूप-विधान है जिसका जन्म बीसवीं शताब्दी में योरोप में—विशेषकर रूस में—हुआ था । बाद में अमेरिका ने भी इसे अपनाया । इसके जन्म की कारणभूत परिस्थितियाँ प्रथम महायुद्ध के बाद की वे बड़ी-बड़ी घटनाएँ हैं जिन्होंने दुनियाँ को बार-बार हिला दिया है । महायुद्ध के बाद संसार में जितने बड़े-बड़े और जितने दुत परिवर्तन हुए उतने पहले नहीं हुए थे । इन परिवर्तनों का असर विश्वव्यापी होता था । करोड़ों व्यक्तियों के जीवन पर इनका सहज और गहरा प्रभाव तत्काल देखने में आता रहा है । इन महान् घटनाओं को सम्पूर्णता में चित्रित करने का प्रयास ही रिपोर्टाजकला के जन्म का कारण है ।

रिपोर्टाज में तीन तत्त्व होते हैं—

(१) किसी बहुत बड़ी सामाजिक घटना का इतिहास या कारण तत्त्व ।

(२) उस घटना का परिवेश, समसामयिक वातावरण अथवा घटना का वाह्य रूप ।

(३) उस घटना के भीतर काम करनेवाली शक्तियाँ और

सामाजिक प्रवृत्तियाँ तथा उनके परस्पर संघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य का निर्देश ।

रिपोर्टाज में कहानी-उपन्यास के कुछ तत्त्व वर्तमान हैं, पर वह कहानी-उपन्यास से भिन्न हैं । दोनों में घटनाएँ होती हैं । पर, जहाँ कहानी-उपन्यास की घटनाएँ वैयक्तिक, पारिवारिक या कल्पित भी हो सकती हैं और कल्पित दीख सकती हैं, वहाँ रिपोर्टाज में जो घटनाएँ होती हैं अनिवार्य रूप से विराट् सामाजिक उथल-पुथल, क्रांतियों या संघर्षों की व्यापक पीठिका में चित्रित होती हैं तथा उनमें वास्तविकता का चित्रण होता है । कल्पना का उपयोग भी इस रूप में होता है कि वह वास्तविक-सी दीखे । रिपोर्टाज-लेखक मानो घटनास्थल पर खड़ा होकर सब कुछ देख-सुन रहा हो और अपने पाठकों को अपनी भावनाओं और प्रतिक्रियाओं से पूर्ण उस घटना का आँखों देखा हाल सुना रहा हो । वह पाठक को उस घटना की बाहरी हल-चल का, उसके सूक्ष्म व्यौरों का मूर्च्छा परिचय तो कराता ही है, साथ ही उस घटना से सम्बद्ध भावों—अनुभूतियों के ज्वार-भाटे का अनुभव भी कराता है । इतना ही नहीं, वह पाठक को उस घटना की तह में देखने की अन्तर्दृष्टि देता है जिससे वह उस घटना के मूल कारणों को समझ जाय, उस घटना के पीछे काम करनेवाली शक्तियों के परस्पर संघर्ष का अन्दाज लगा ले और उस संघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य की कल्पना कर सके । इसलिये, रिपोर्टाज जहाँ सामान्य कथया-

साहित्य की अपेक्षा यथार्थ या वास्तविकता के चित्रण पर अधिक जोर देता है, वहाँ वह भाव और अनुभूति को अधिक तीव्र बना सकने के कारण वर्तमान संक्रान्तिकालीन मानव के संघर्ष-दग्ध हृदय को छूने का उपक्रम भी करता है। रिपोर्टाज वर्तमान सामाजिक जीवन के द्रुत परिवर्तनों को साकार या मूर्त्तरूप देने का प्रयास करता है जिसमें जटिल वर्तमान को अनेक रूपिणी वास्तविकता पाठकों की पकड़ में अधिक गहराई से आ सके।

रिपोर्टाज में चित्रपट की भाँति बदलते हुए दृश्य पाठक के सामने मूर्त्त होते जाते हैं—इन दृश्यों में पूर्वापर क्रम होता है, पर कार्य-कारण सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट नहीं होता। यथावश्यकता लेखक कुछ देर रुक कर घटना-परिवर्तनों की तह में प्रवेश कर कारण-तत्त्व का उद्घाटन करता है। यथावश्यकता वह घटनाओं और उनके कारणतत्त्वों की आलोचना कर तत्कालीन समाज की शक्तियों एवं प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करता है। इन सब प्रक्रियाओं द्वारा वह समाज के नवीन मूल्यों और मानों की स्थापना का प्रयास भी करता है। इसलिये रिपोर्टाजकला सदैव सोद्देश्यकला है। उसके पीछे सदैव एक प्रगतिशील दार्शनिक मान्यता काम करती है जो सामाजिक जीवन के नवीन और वैज्ञानिक संघटन का आग्रह रखती है।

इसीलिये रिपोर्टाज को अधिकतर प्रगतिवादियों ने ही अपनाया। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने इसको उपयोगी नहीं समझा।

जॉन डीज की प्रसिद्ध पुस्तक 'टेन डेज दैट शूक द वर्ल्ड' में रूस की समाजवादी क्रान्ति का रिपोर्टाज है। "जोजेफ प्रीमन के शब्दों में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पिछले दिनों योरोप और अमेरिका में समाज की नींव हिला देने वाला जो साहित्य लिखा गया है उसमें से अधिकांश रिपोर्टाज है।" ❀

हिन्दी में रिपोर्टाज बहुत नहीं लिखा गया है। सर्वश्री कृष्णचन्द्र, रांगेय राघव आदि प्रगतिशील लेखकों ने कुछ रिपोर्टाज प्रस्तुत किये हैं।

— — —

जीवनी : आत्मकथा : संस्मरण

जीवनी में इतिहास और साहित्य के तत्त्व—

जीवनी में इतिहास और साहित्य के तत्त्वों का समन्वय रहता है। इतिहास वस्तु-सत्य का वर्णन करने का प्रयास करता है, वस्तु के लेखक-निरपेक्ष रूप का वर्णन उसे अभीष्ट है। जीवनी में भी वास्तविकता का परिचय कराना, तटस्थ भाव से, बिना अपना व्यक्तित्व उसमें मिलाये, किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों आदि का चित्रण करना लेखक का उद्देश्य होता है। इतिहासकार और जीवनी लेखक, दोनों विविध क्षणों की अभिव्यक्ति द्वारा जीवन के शाश्वत सत्य को पकड़ने का प्रयास करते हैं, विविध परिवर्तनों द्वारा किसी अपरिवर्त्तनेय तथ्य या सिद्धान्त तत्त्व की स्थापना के लिये भूमिका प्रस्तुत करते हैं। अनेकता में एकता, नश्वरता में अमरता, विशृंखलता में सामञ्जस्य ढूँढ़ निकालने के लिये दोनों प्रणवद्ध हैं। दोनों का अन्तर इतना ही है कि इतिहासकार सामूहिक जीवन का अध्ययन करता है, जीवनी-लेखक वैयक्तिक जीवन का। जीवनी-लेखक किसी एक व्यक्ति को लेकर चलता है, उस व्यक्ति का अनुबोक्षणात्मक अध्ययन करता है, उसके जीवन के विविध पहलुओं के विकास का क्रमबद्ध इतिहास हमारे सामने रखता

है, उसके व्यक्तित्व के निर्माण में योग देनेवाले परिवेश या परिस्थितियों के विविध रूपों का भी परिचय देता चलता है। पर वह इतिहासकार के ही समान एक तो सदैव स्वयं तटस्थ रहता है और यथासम्भव वस्तुनिष्ठ रूप से वर्ण्य विषय का विवेचन करता है, दूसरे, वह घटनाओं के विकास में कार्य-कारण सम्बन्ध पर भी ध्यान रक्ता है।

फिर भी जीवनी और इतिहास में इतना ही अन्तर नहीं है कि एक वैयक्तिक जीवन का अध्ययन है और दूसरा सामाजिक घटनाओं और प्रवृत्तियों का विवेचन। वरन् दोनों पृथक् विधान हैं। जीवनी साहित्य का एक अंग हो सकती है और प्रायः है, लेकिन इतिहास साहित्य का अंग नहीं, कला का विशेष स्वरूप नहीं, वरन् एक स्वतंत्र शास्त्र या विज्ञान है। जीवनी में साहित्य के तत्त्व भी वर्तमान रहते हैं। साहित्य के अन्य अंगों के ही समान रोचकता और सरसता के तत्त्व जीवनी में भी निहित हैं। जीवनी-लेखक तटस्थ तो रहता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह वर्ण्य वस्तु के वर्णन में रस नहीं लेता अथवा उसका बिल्कुल रुखे-सूखे ढंग से वर्णन कर देता है। उसकी तटस्थता वैज्ञानिक की तटस्थता से भिन्न है। उसकी तटस्थता का अर्थ सिर्फ यही है कि वह अपनी ओर से, अपनी कल्पना के सहारे, अपनी रुचि या भावुकता के कारण चरित-नायक की जीवन-घटनाओं की वास्तविक रूपरेखा में अथवा उसके परिवेश-सम्बन्धी विदित तथ्यों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं

कर देता। चरित नायक के जीवन को ईमानदारी से हमारे सामने वह रखता है जिसमें चरित नायक की वास्तविकता से हमारा परिचय हो जाय; वह भावना या कल्पना के सहारे चरित नायक के रूप को कम या अधिक अंशों में बदल नहीं देता। ऐतिहासिक नाटककार या उपन्यासकार के समान घटना-शृंखला के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिये अथवा वार्त्तालाप के संगठन के लिये वह अपनी उर्वर कल्पना से काम नहीं लेता। तटस्थता का बस यही अर्थ है। चरित-नायक के जीवन के विविध पहलुओं की पूर्वापर योजना, वास्तविकता की रक्षा करते हुए परिवेश के साथ उसके व्यक्तित्व की सम्बन्ध-स्थापना तथा वस्तुविधान और भाषा-कौशल द्वारा अपनी रचना में आकर्षण, कौतूहल, सजीवता और सरसता के समावेश में जीवनी-लेखक सर्वथा स्वतंत्र है। अतएव वह अपनी प्रतिभा के बल से अपनी रचना में साहित्यिक सरसता का सञ्चार कर सकता है। है। उसकी रचना जहाँ एक ओर चरितनायक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करती है, वहाँ दूसरी ओर उस व्यक्ति के जीवन की अद्भुत घटनाओं से हमें रोमाञ्चित करती, विविध मार्मिक परिस्थितियाँ पर हमारे हृदय में करुणा, ममता, उदात्तता, उत्साह, हर्ष, आशा, निराशा आदि भिन्न-भिन्न भावों का उद्रेक करती तथा अपनी सम्पूर्णता में हमारे मन के ऊपर कोई विशिष्ट प्रभाव छोड़ जाती है। हम जीवनी से प्रभावित होते हैं। महापुरुषों की

जीवनियाँ हमें महान् बनने की प्रेरणा देती हैं। हमारे संस्कारों पर अज्ञात रूप से महापुरुषों के उदात्त चरित्रों का प्रभाव पड़ता है और हमारा अपना चारित्रिक उत्कर्ष सम्पन्न होता है। अतएव जीवनी रचनात्मक साहित्य का ही एक स्वरूप-विधान है।

जीवनी की अन्य विशेषताएँ—

किसी व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में लिखने के तीन प्रमुख ढंग हैं—

(१) जब लेखक किसी अन्य व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में तटस्थ भाव से, अपने व्यक्तित्व को अलग रखकर प्रत्यक्ष अनुभव अथवा (अप्रत्यक्ष रूप से) अध्ययन से प्राप्त जानकारी के आधार पर चरितनायक के जीवन के सम्बन्ध में सभी पहलुओं का सम्यक् विवेचन करता है तो इसे जीवनी कहते हैं ;

(२) जब लेखक स्वयं अपने जीवन की कथा लिखता है, प्रथम पुरुष में अपने जीवन की घटनाओं-परिस्थितियों आदि का उद्घाटन करता है तो इसे आत्म-कथा कहते हैं ;

❀ Lives of great men all remind us
We may make our lives sublime
And departing leave behind us
Footprints on the sands of time.

(३) जब लेखक वैयक्तिक सम्पर्क की स्मृति के आधार पर किसी अन्य व्यक्ति के जीवन के किसी एक पहलू या कुछ खास पहलुओं का आत्मनिष्ठ चित्रण करता है, तो इसे संस्मरण कहा जाता है ।

जीवनी में लेखक किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डालता है । वह उस व्यक्ति के जीवन का वर्णन यथासम्भव वास्तविक रूप में—आत्म निरपेक्ष रूप में—करता है । इस वर्णन का आधार चरितनायक के साथ वैयक्तिक सम्पर्क हो, या चरितनायक से उसका किसी तरह का वैयक्तिक सम्बन्ध हो, यह जरूरी नहीं । हम पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियाँ भी लिख सकते हैं जिनके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध का प्रायः सवाल ही नहीं उठता । जीवनी-लेखन की सामग्री अध्ययन द्वारा भी उपस्थित की जा सकती है । जीवनी में हम चरितनायक का यथासम्भव सम्पूर्ण चरित्र अंकित करने का प्रयास करते हैं—बचपन से लेकर वार्द्धक्य तक की घटनाओं और परिस्थितियों के क्रमिक विकास का अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं । चरित्र के लगभग सभी पहलुओं का वर्णन उसमें हो जाता है ।

आत्मकथा और संस्मरण —

पर, आत्मकथा और संस्मरण की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं । जीवनी में लेखक किसी अन्य व्यक्ति का चित्रण करता है । आत्मकथा में वह स्वयं अपने जीवन की कहानी

लिखता है। अतएव आत्मकथा लेखक के लिये तटस्थता का सबाल ही नहीं उठता। वह यथावसर विभिन्न परिस्थितियों में उसकी निजी प्रतिक्रियाएँ और भावनाएँ कैसी रही, इसका परिचय भी पाठकों को देता चलता है। क्योंकि उसका निजी जीवन ही उसका वर्ण्य है। वह अपने व्यक्तित्व का स्वयं उद्घाटन करता है। जीवनी लेखक के समान आत्मकथा लेखक भी जीवनी को सम्पूर्णता में चित्रण करने का प्रयास करता है, अनेक पहलुओं और जीवन-दशाओं का वर्णन करता है। पर, जीवनी और आत्मकथा के रचनाविधान में भेद है। जीवनी में दूसरे का जीवन वर्ण्य है, अतएव चरित्र-नायक की भावों—प्रतिक्रियाओं के वर्णन की सीमाएँ हैं। चरितनायक की अपनी वास्तविक उक्तियाँ आदि अथवा उसकी जीवन-घटनाएँ अथवा परिस्थिति-विशेष ने उसके अनुभव या शारीरिक चेष्टाएँ ही उसके भावों के परिचायक हो सकती हैं। इन्हीं सांकेतिक आधारों पर जीवनी-लेखक चरित्र के स्वभाव आदि के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य स्थिर करता है। पर आत्मकथा में भाव-जगत् का रहस्य-द्वार लेखक के सामने बिलकुल खुला है। वह स्वेच्छापूर्वक उसमें प्रवेश कर तथ्य-चयन कर सकता है। अपनी भावों-प्रतिक्रियाओं की उपेक्षाकृत अधिक विश्वस्त जानकारी है। अतएव वह जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों का अधिक वास्तविक, सजीव और विशद चित्रण कर सकता है।

संस्मरणलेखक अनिवार्य रूप से किसी दूसरे व्यक्ति का चरित्र ही अपना वर्णन बनाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के चरित्र पर प्रकाश डालना ही उसका उद्देश्य होता है, पर शर्त यह है कि उस दूसरे व्यक्ति से उसका निजी संपर्क होना आवश्यक है। लेखक चरितनायक के संपर्क में पहले कभी आ चुका होता है और इस संपर्क द्वारा उत्पन्न अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की स्मृति के आधार पर चरित-नायक का चित्रण करता है। यह संपर्क घंटे-दो-घंटे का साहचर्य भी हो सकता है और जीवन-भर का साथ भी, शारीरिक साक्षात् भी हो सकता है, सघन पत्र-व्यवहार भी। पर संपर्क ऐसा होना चाहिये जिसकी कुछ प्रतिक्रिया हमारे मन के ऊपर हुई हो। इसीलिये, संस्मरण में आत्मनिष्ठता आ ही जाती है। लेखक चरित-नायक के व्यक्तित्व के मूल्यांकन करने की प्रक्रिया में अपनी भावों-प्रतिक्रियाओं का भी अभिव्यञ्जन करता है। यहाँ पर एक खतरा है। कहीं ऐसा न हो कि लेखक की असावधानी से उसका अपना ही व्यक्तित्व प्रधान हो जाय, और चरित-नायक का व्यक्तित्व ही दब जाय। यद्यपि आत्मगत भावों-अनुभूतियों के लिये संस्मरण में स्थान है, फिर भी यह स्थान सापेक्ष है, जहाँ अनुपात का ध्यान रखना जरूरी है। संस्मरणलेखक को भूलना नहीं चाहिये कि चरित-नायक के जीवन पर प्रकाश डालना ही उसका चरम साध्य है, आत्माभिव्यक्ति करना नहीं। अपने भावों और प्रतिक्रियाओं को उसी अंश में उसे स्थान देना

चाहिये । जिस अंश में वे चरितनायक के व्यक्तित्व के उद्घाटन में सहायक हों ।

संस्मरण में संपूर्ण जीवन के चित्रण की व्यापकता नहीं होती, पर वास्तविक अनुभव की गहराई या मार्मिकता अधिक होती है । चरितनायक के व्यक्तित्व के किसी एक ही पहलू पर प्रकाश पड़ता है, पर यह प्रकाश इतना तीव्र होता है कि उसमें उस पहलू की विविध बारीकियाँ साफ फलक जाती हैं । इस दृष्टि से तथा आत्मनिष्ठता के तत्त्व के समावेश के कारण संस्मरण कहानी, वैयक्तिक निबन्ध अथवा प्रगीत मुक्तक जैसे साहित्य के अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म स्वरूप विधानों के निकटतर है ।

जीवनी-साहित्य में जनसामान्य का नायकत्व—

अब तक जीवनी-साहित्य में महापुरुषों अथवा प्रसिद्ध व्यक्तियों को ही चरितनायक बनाने की परिपाटी है । महापुरुषों की जीवनी पाठकों के चरित्र-परिष्कार और आदर्श की प्रतिष्ठा की दृष्टि से महत्त्व रखती है । पर इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जीवनी साहित्य में साधारण मनुष्य को चरितनायक बनाकर उसके जीवन और व्यक्तित्व के विविध पहलुओं का उद्घाटन करना भी साहित्य और कला की दृष्टि से कम उपयोगी नहीं होगा । महापुरुष हैं, इसलिये जनसाधारण से ऊँचे हैं, दूर हैं । कमजोरियाँ उनमें हो सकती हैं, पर उनकी महानताओं को ही हम लक्ष्य करते हैं । साधारण व्यक्ति—अपनी सीमाओं और दुर्बलताओं

के कारण ही साधारण है—हमारे-आपके जैसा है। इसलिये हम-आपके लिये उस साधारण व्यक्ति का—जो हम-आप जैसा है—जीवन-अध्ययन अधिक साहित्यिक उपयोगिता या महत्त्व रखता है। एक रिक्शावाला या किरानी की यथार्थ साहित्यिक जीवनी, एक औसत लेखक का आत्मकथा अथवा आपके उस बूढ़े, वफादार नौकर का संस्मरण, जो अपनी कुछ खास प्रवृत्तियों के कारण विशिष्ट था, विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से यथेष्ट महत्त्व-शील है।

हिन्दी में जीवनो-साहित्य--

हिन्दी में जीवनियों की कमी नहीं। साहित्य का यह अंग हिन्दी में समृद्ध कहा जा सकता है। श्री सीताराम चतुर्वेदी की 'महामना मालवीय जी की जीवनी', श्री सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित 'हमारे राष्ट्रपति' तथा 'स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी', श्री घनश्यामदास बिड़ला का 'बापू', श्री रामशुक्ल बेनीपुरी का 'विप्लवी जयप्रकाश' तथा 'रोज़ा लुम्जेम्बुर्ग', डा० रामबिलास शर्मा का 'निराला' आदि उल्लेखनीय हैं।

आत्मकथा-लेखक हिन्दी में बहुत नहीं हुए हैं। स्वामी श्रद्धानन्द की पुस्तक 'कल्याण मार्ग का पथिक', भाई परमानन्द की 'आपबीती', स्वामी भवानी दयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा', श्री वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह', श्री राहुल सांकृत्यायन की 'मेरा जीवन प्रवाह', श्री मूलचन्द अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा', श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मेरी

जीवन भाँकियाँ' बा० गुलाब राय की 'मेरी असफलताएँ' और बा० श्यामसुन्दर दास की 'आत्मकथा' प्रभृति पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई आत्मकथाओं के उदाहरण हैं ।

संस्मरणों के उदाहरण रूप में श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा', श्री कन्हैयालाल मिश्र की 'भूले हुए चेहरे', श्री रघुवीर सिंह की 'शेषस्मृतियाँ', श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं । श्री रामवृत्त बेनोपुरी, श्री शिवपूजन सहाय, श्री मोहन लाल महतो 'त्रियोगी' आदि प्रतिष्ठित लेखकों ने संस्मरण भी लिखे हैं ।

समालोचना

आलोचना का अर्थ—

‘आलोचना’ शब्द लुच् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है देखना । अतः, आलोचना का शाब्दिक अर्थ हुआ किसी वस्तु को देखना । संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में ‘आलोचना’ शब्द का अर्थ दिया है—किसी वस्तु के गुण दोष का विचार । साहित्य में ‘आलोचना’ शब्द के कई अर्थ प्रचलित हैं । साहित्य के किसी युग, किसी कवि या उसकी किसी रचना की आलोचना की जाती है । कभी आलोचना के रूप में गुण-दोष विचार होता है, कभी युग, कवि या रचना की विविध विशेषताओं की व्याख्या या प्रकाशनमात्र । कभी-कभी तो किसी पुस्तक पर कुछ सरसरी निगाह से अपनी राय दे देना ही आलोचना का पर्याय समझ लिया जाता है । ‘आलोचना’ शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है । इसीसे आलोचना के कई भेद हैं जिनका परिचय आगे दिया जायगा ।

समालोचना—

‘समालोचना’ शब्द का अर्थ हुआ सम्यक् रूप से (अच्छी तरह) आलोचना करना । जब आलोचना सर्वांगपूर्ण होती है तब उसे समालोचना कहा जाना चाहिये । पर व्यवहार में

‘आलोचना’ और ‘समालोचना’ शब्दों में कोई भेद नहीं माना जाता ।

निबन्ध—

निबन्ध और आलोचना में भेद है । आलोचना किसी कवि या रचना की होती है । निबन्ध का विषय जीवन, जगत्, या उसका कोई अंग होता है । कविता या नाटक के समान निबन्ध भी रचनात्मक साहित्य का एक प्रकार है, आलोचना नहीं । निबन्ध में लेखक अपने भावों का सरस वर्णन करता है । आलोचना में वह तटस्थरूप से आलोच्य रचना की विशेषताओं का उद्घाटन करता है, या गुणदोषों का निर्णय करता है । अपनी रुचि या अपने भावों को वह आलोच्य विषय के साथ जानबूझकर नहीं मिलाता । निबन्ध में वह मिला सकता है ।

प्रबन्ध—

निबन्ध रचनात्मक साहित्य का एक प्रकार है । इसलिये उसमें लेखक के अपने भाव, अपनी रुचि, अपनी अनुभूति अथवा अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है । प्रबन्ध एक वैज्ञानिक प्रयास है । उसमें लेखक अपने को तटस्थ रखकर विषय का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन करता है । निबन्ध में भाव, कल्पना और सौंदर्य तत्त्व के लिये जगह है; प्रबन्ध में विचार, तर्क, चिन्तन और विवेचन के लिये । भूगोल या राजनीति के नियमों

का विवेचन प्रबन्ध कहलायगा, चाँदनी रात के सुन्दर वातावरण का सरस, भावात्मक वर्णन निबन्ध ।

प्रबन्ध और आलोचना दोनों में विचार की प्रधानता है, भाव की नहीं । दोनों में लेखक विषय का तर्क और चिन्तन के सहारे तटस्थ विवेचन करता है । दोनों में भेद यह है कि प्रबन्ध का विषय जीवन या जगत् का कोई पहलू होता है, और आलोचना का विषय कोई साहित्यिक रचना या कवि या लेखक ।

लेख—

‘लेख’ शब्द का उपयोग बहुत ही ढीले-ढाले अर्थ में होता है । सभी प्रकार की गद्य रचनाएँ—विशेष रूप से वे गद्य रचनाएँ जिनमें कथा के बदले विचार या भाव प्रधान रहते हैं—लेख कहलाती हैं । आलोचना, निबन्ध, प्रबन्ध, सबको लेख कहा जाता है । पर, अधिकतर ‘लेख’ शब्द ‘निबन्ध’ के अर्थ में लिया जाता है ।

व्याख्या—

व्याख्या करना भी एक प्रकार की आलोचना ही है । या यों कहना चाहिये कि आलोचक का यह भी कर्म है कि वह किसी रचना के गूढ़ मर्म को सरल बनाकर सामने रखे । व्याख्या किसी रचना के मर्म या प्रधान भाव की भी हो सकती है और गूढ़ अर्थ रखनेवाली कुछ निर्दिष्ट पंक्तियों की भी । पर सदैव व्याख्या में गूढ़ अर्थ या मर्म को सरल बना

कर, उसे स्पष्ट कर रक्खा जाता है। इसमें उस गूढ़ अर्थ की अच्छाई-बुराई की छानबीन नहीं की जाती। आलोचना का एक भेद व्याख्यात्मक आलोचना भी है। इसमें सामान्य रूप से रचना के मर्म को प्रकाशित किया जाता है, विशेष पंक्तियों के गूढ़ अर्थ को नहीं। जब कुछ खास पंक्तियों के गूढ़ अर्थ को अधिक स्पष्ट बनाकर सामने रखा जाय तो उसे व्याख्या कहते हैं। व्याख्या और व्याख्यात्मक आलोचना में यही विशेष और सामान्य का भेद है।

आलोचना—

तो, आलोचना क्या है ? वह व्याख्या का रूप ले सकती है, उसे लेख भी कह सकते हैं, प्रबन्ध तो वह है ही—अन्तर सिर्फ इतना है कि उसका सम्बन्ध प्रबन्ध की तरह जीवन-जगत् से सीधा नहीं होता, वरन् किसी कला-कृति (कविता, कहानी, नाटक आदि) के माध्यम से होता है, निबन्ध की-सी सरसता कभी-कभी आलोचना में भी हम देखते हैं और समालोचना तो श्रेष्ठ आलोचना को ही कहते हैं। जब हम किसी साहित्यिक कलाकृति (आलोच्य) के मर्म की व्याख्या करें, उसकी विशेषताओं या उसके तत्त्वों को अलग-अलग करके उनकी परीक्षा करें या विवेचन करें, उसको किसी आदर्श रचना की कसौटी पर कस उसके गुण-दोषों का या सफलता-असफलता का निर्णय करें, किसी समान रचना से उसकी तुलना करें, सामाजिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक

प्रभावों को ध्यान में रखकर उसकी छानबीन करें, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर उसकी परीक्षा करें, अथवा नैतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से उसे अच्छा या बुरा कहें—तो ये सारे प्रयत्न आलोचना की सीमा के अन्दर होंगे ।

आलोचना इनमें से एक या अनेक प्रयत्नों को कह सकते हैं । इन विशेष प्रवृत्तियों की दृष्टि से आलोचना के कई भेद माने गये हैं । किस भेद की क्या विशेषताएँ हैं और किस प्रकार की आलोचना आज अच्छी समझी जाती है । इसपर आगे विचार किया गया है ।

आलोचना निबन्धरूप में भी हो सकती है, पुस्तकरूप में भी, एक विशिष्ट रचना की भी हो सकती है, एक कवि की सम्पूर्ण रचनाओं अथवा किसी युग की सामान्य या विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति की भी । अतएव आलोचना का क्षेत्र विशद है और उसके रूप विविध ।

पुस्तक-समीक्षा या पुस्तक-परिचय—

आजकल पत्र-पत्रिकाओं में नियमपूर्वक पुस्तकों की सीमा प्रकाशित होती है । अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में तो समीक्षा के नाम पर कुछ यों ही लिख दिया जाता है अथवा पुस्तक की पृष्ठ संख्या, छपाई-सफाई, विषय-सूची और लेखक और पुस्तक की उपयोगिता की कभी-कभी तो निराधार और अक्सर सामान्य चर्चा कर दी जाती है । पुस्तक-समीक्षक पुस्तक को पढ़कर उस

पर विचार करने का कष्ट करना अनावश्यक समझता है। ऐसी हवाई आलोचना को आलोचना कहना भी अनुचित है।

पुस्तक-समीक्षा का उद्देश्य होना चाहिये पुस्तक का सर्वांगीण परिचय और सम्यक् स्थान-निरूपण जिसमें पाठकों को उस पुस्तक के पढ़ने के पहले उसकी अनुपयोगिता-उपयोगिता का थोड़ा अन्दाज मिल जाय और वे इसका निश्चय कर सकें कि क्या पढ़ना चाहिये, क्या नहीं। पुस्तक-परिचय का अर्थ छपाई-सफाई, पृष्ठ संख्या आदि की चर्चा-मात्र नहीं, वरन् विषय का परिचय भी है।

प्रत्यालोचना —

कभी-कभी किसी आवोच्य विषय के संबन्ध में एक आलोचक कुछ कह जाता है और उसके उपरान्त दूसरा आलोचक उस विषय पर प्रथम आलोचना की आलोचना अथवा प्रत्यालोचना करता है। प्रत्यालोचना में अक्सर आवेश और तीखापन देखा जाता है, पर ऐसा उचित नहीं है। प्रत्यालोचना संयम होनी चाहिये और प्रथम आलोचक की उचित बातों को स्वीकार कर केवल असंगत बातों का अत्यन्त सावधानी से, तर्कपूर्ण शैली में खंडन होना चाहिये। प्रत्यालोचना में प्रथम आलोचक के विचारों का आरंभ में संक्षिप्त परिचय पाठकों को दे देना अच्छा है।

आलोचना के भेद

आलोचक के कर्त्तव्य —

आलोचक का कर्त्तव्य क्या है ? इस संबन्ध में कोई एक और निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता । किसी रचना की व्याख्या कर उसका गूढ़ मर्म समझाना, उस रचना का अन्य रचनाओं से तुलना करना, उस रचना के गुण-दोषों का कथन कर उसका मूल्य-निर्द्धारण करना, आदि अनेक कर्त्तव्यों की चर्चा हुई है । इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आलोचना के कई भेद किये गये हैं । लेकिन इन सभी भेदों में एक बात आवश्यक है—वह यह कि आलोचक किसी कवि या लेखक की रचनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करे, उसके व्यक्तित्व पर नहीं । व्यक्तित्व का अध्ययन भी रचना को ही ध्यान में रखकर होना चाहिये ।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा —

जब हम किसी विशिष्ट रचना की आलोचना करते हैं या किसी विशिष्ट कवि या ऐतिहासिक प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं तो इसे व्यावहारिक आलोचना कहेंगे । हिन्दी में शुक्लजी की पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' व्यावहारिक समीक्षा है । बा० श्यामसुन्दर दास की पुस्तक 'साहित्यालोचन' अथवा प्रस्तुत पुस्तक सैद्धान्तिक समीक्षा का उदाहरण है ।

वैज्ञानिक और शास्त्रीय आलोचना —

व्यावहारिक समीक्षा की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—वैज्ञानिक

और शास्त्रीय । वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति में आलोच्य का अध्ययन, व्याख्या, विश्लेषण आदि किया जाता है तथा कई विशिष्ट रचनाओं के अध्ययन से कोई सामान्य सिद्धान्त या आदर्श प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है । शास्त्रीय आलोचना पद्धति में कोई आदर्श पहले से प्रतिष्ठित होता है और इसी प्रतिष्ठित आदर्श के आलोक में आलोच्य का मूल्यांकन किया जाता है । पूर्व निश्चित साहित्य-सिद्धान्तों के कसौटी पर आलोच्य को परखा जाता है । इन दोनों प्रकार की पद्धतियों के अन्तर्गत व्यावहारिक आलोचना के कई भेदों का समावेश हो जाता है जिनपर यहाँ विचार किया जा रहा है ।

विवेचनात्मक आलोचना—

यह वैज्ञानिक आलोचना पद्धति का मुख्य भेद है जिसमें आलोच्य की विशेषताओं का उद्घाटन, विवेचन, व्याख्या, विश्लेषण आदि अभीष्ट होता है ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना—

इसमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य की विशेषताओं का उद्घाटन होता है ।

ऐतिहासिक आलोचना —

इसमें आलोच्य के पारिपार्श्विक जीवन या परिवेश का अथवा उसके निर्माण में सहायक ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी विवेचन होता है । इतिहास का जो प्रभाव रचना पर पड़ता

है, उसको दृष्टि में रखकर रचना की विशेषताओं का प्रकाशन होता है ।

निर्णयात्मक आलोचना—

यह शास्त्रीय आलोचना-पद्धति का प्रमुख भेद है । निर्णयात्मक आलोचना में किसी पूर्वनिश्चित आदर्श या साहित्य-सिद्धान्त के आधार पर आलोच्य की सफलता असफलता का निर्णय किया जाता है । यदि आलोच्य शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरा—शास्त्र-निर्देश आदर्श के अनुरूप हुआ—तो वह सफल, नहीं तो असफलता कहा जाता है ।

गुणदोषात्मक आलोचना—

गुणदोषात्मक आलोचना भी शास्त्रीय आधार पर की जाती है । निर्णयात्मक आलोचना से इसमें अन्तर यह है कि प्रथम में सामूहिक रूप से सम्पूर्ण आलोच्य की सफलता—असफलता पर विचार होता है, इसमें आलोच्य के विशेष तत्त्वों को लेकर उसके गुणों और दोषों का कथन होता है । पक्ष-पात-रहित आलोचक आलोच्य के गुण-दोषों का संयक् कथन करके उसके वास्तविक मूल्य का निर्धारण करता है और पाठकों का मार्ग-निर्देश करता है ।

तुलनात्मक आलोचना—

तुलनात्मक आलोचना में समान विशेषताओं वाली दो रचनाओं या दो लेखकों की आलोचना होती है; अथवा आलोच्य की विशेषताओं के सम्यक् उद्घाटन, विश्लेषण गुणदोष-

विवेचन, मूल्य निर्धारण आदि के लिये उसके समान विशेषताओं वाली किसी दूसरी रचना आदि से उसकी तुलना की जाती है। तुलनात्मक आलोचना वैज्ञानिक भी हो सकती है, शास्त्रीय भी—उसका वैज्ञानिक या शास्त्रीय होना आलोचक की मनोवृत्ति और उसकी आलोचना-प्रक्रिया पर निर्भर है।

चारित्रिक आलोचना—

चारित्रिक आलोचना में इस बात का विचार होता है कि आलोच्य के नैतिक उत्कर्ष का धरातल क्या है अथवा पाठकों के नैतिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

आत्मगत या प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना—

प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना न वैज्ञानिक है, न शास्त्रीय। इसमें आलोच्य के वास्तविक रूप का विश्लेषण अथवा उसका तटस्थभाव से गुणदोष विवेचन या मूल्यांकन करने का प्रयास नहीं होता, वरन् आलोचक के मन पर किसी रचना को पड़ कर क्या प्रभाव पड़ा, इसी की अभिव्यञ्जना कर दी जाती है। कोई यह पृष्ठ नहीं सकता कि अमुक प्रभाव कैसे पड़ गया। भिन्न-भिन्न आलोचकों पर एक ही आलोच्य के भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ सकते हैं, अतएव प्रभावाभिव्यञ्जक आलोचना के औचित्य की कोई कसौटी नहीं हो सकती।

समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी आलोचना—

आजकल कुछ प्रगतिवादी लेखक कलाकृतियों की सफलता-असफलता का निर्णय समाजशास्त्र (विशेषकर कार्लमार्क्स के

सामाजिक दर्शन) के आधार पर करते हैं। अर्थ-नीति, राजनीति आदि के तत्त्वों का इसमें समावेश हो जाता है। मार्क्स के सिद्धान्तों को रूढ़ रूप में ग्रहण कर चलनेवाली आलोचना ऐतिहासिक भौतिकवादी आलोचना कही जा सकती है। पर समाजशास्त्रीय आलोचना मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिवा किसी अन्य सामाजिक दर्शन को आधार बनाकर जैसे गाँधीवाद को आधार बनाकर भी चल सकती है। समाजशास्त्रीय आलोचना में साहित्य की सामाजिक उपयोगिता का तत्त्व प्रधान रहता है।

— — —

